वर्ष ६, अंक ३ | श्रीकृष्णाय नमः | मार्गशीर्ष, १९९१
जनवरी

वार्षिक चन्दा ३) | सम्पादक
अ० कृष्णानन्द, भूमानन्द | एक प्रति ।)

विषय सूची

नं०	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश		६५
२.	[illegible] गाथा [ले० श्री स्वामी भोले बाबा जी		६६
३.	सुख का मार्ग		७०
४.	अभिलाषा (कविता) [ले० श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी आश्रम		७४
५.	कर्तव्य [ले० श्रीमती सुरज देवी 'प्रभाकर'		७५
६.	जनक विदेह का जीवन चरित्र [ले० भक्तरत्न श्री मथुराप्रसाद जी 'मथुरेश'		७७
७.	मैं और तू (कविता) [ले० श्री बलदेव प्रसाद जी बी. ए.		७९
८.	जीवात्मा [ले० श्री यमुना प्रसाद जी श्री वास्तव		८०
९.	व्याज स्तुति (कविता) [ले० साहित्यरत्न पं० बाबूलाल भार्गव बी. ए.		८३
१०.	षट् प्रमाण संग्रह [ले० श्री महात्मा राम आश्रम		८४
११.	ईश्वर पर विश्वास करो [ले० श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी आश्रम		८५
१२.	कामना (कविता) [ले० श्री परमेश्वर दयाल 'प्रेम पथिक'		८८
१३.	योग-साधन [ले० श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती		८९
१४.	भगवन्नाम जपही भक्ति है [ले० श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी ईसी		९०
१५.	श्री सत्य नारायण पूजन [ले० श्री गुरुराम विश्व कर्मा 'विशारद'		९२
१६.	माधव से (कविता) [ले० श्रीमती ब्रज कुमारी 'प्रभाकर' आश्रम		९५
१७.	भजन		९६

भक्ति के नियम

१. भगवान् की भक्ति का प्रचार करना, गो रक्षण और उसके लिए गोचर भूमि छुड़वाना, जलाशय बनवाना, मनुष्य मात्र के लिए शिक्षा का प्रचार करना, वैदिक अनुभूत औषधियों का प्रचार करना, ग्रामों में परस्पर के झगड़े और वैमनस्य मिटा कर शान्ति व प्रेम बढ़ाना, सब संस्थाओं में भगवद्भक्ति और धर्म का भाव जाग्रत करना, राजा और प्रजा सब ही का हित चिन्तन करना।

२. यह पत्र प्रतिमास की पूर्णिमा को प्रकाशित हुआ करेगा।

३. अग्रिम वार्षिक चन्दा सर्व साधारण से २) होगा

४. जो महानुभाव २५) या इससे अधिक देंगे वह पत्रके संरक्षक और ५) देने वाले सहायक होंगे।

५. बाहर का कोई भी व्यापारिक विज्ञापन नहीं लिया जायगा।

६. लेखोंको प्रकाशित करना, न करना, घटाना व बढ़ाना सर्वथा सम्पादक के अधिकार में होगा।

७. लेख सम्बन्धी पत्र व्यवहार सम्पादक के नामसे और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र व्यवहार मैनेजर भक्ति के नाम से होना चाहिए

८. जिन ग्राहकों के पास जिस मास की "भक्ति" न पहुंचे, उनको स्थानीय पोस्ट आफिस में पूछ कर उस मास की अमावस्या से पूर्व कार्यालय में सूचना भेजनी चाहिये। स्थानीय पोस्ट आफिस में बिना पड़ताल किये अथवा अमावस्या के बाद सूचना आने पर "भक्ति" नहीं भेजी जायगी।

९. पत्रोत्तर के लिये, जवाबी, कार्ड भेजना चाहिए।

भक्ति के संरक्षक और सहायक

राव श्रीराम जी रईस नांगल	१२५)
मक्ख नन्दकिशोर जी चर्खी दादरी	१२१)
ला० गोपालदास जी रईस लाहौर	१११)
धर्म सिंह मावजी जेठवा कोलरीप्रोप्राइटर झरिया	१२०)
आनरेबिल डा० गोकलचन्द जी नारंग वज़ीर लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट लाहौर	१०१)
बाई बदामो देवी पुत्री लाला गनेशीलाल चर्खीदादरी	१०१)
श्रीमती रानी निहालकोर धर्मपत्नी कप्तान राव बहादुर बलवीरसिंह जी	१०१)
राव बहादुर, कप्तान राव बलवीर सिंह जी ओ० बी० ई रामपुरा	५१)
चौधरी शिवसहाय जी कोसली	५१)
लाला श्यामलाल जी कपूर दिल्ली	५१)
महाशय शोभाराम जी डूंगरवास	२५)
डाक्टर झवेरभाई नारायणभाई देसाई महुवा जिला कैरा	२५)
पण्डित पन्नालाल जी तोपखाना नं० ५ अम्बाला	२५)
चौधरी उमराव सिंह पहाड़ी धीरज दिल्ली	१५)
पण्डित जयराम जी 'सनातन' देहला	११)
जमादार दीपचन्द जी	५)
मंगलसिंह गनर नं० ५ तोपखाना अम्बाला	५)

Gita Press, Gorakhpur.

गोवंशप्रिय कन्हैया

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष ६ | श्रीभगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, मार्गशीर्ष, ता० १ जनवरी, १९३५ | अंक ३ पूर्ण संख्या ६६

वेदोपदेश

तं स्मारथं मघवन प्राव सातये जैत्रं यं ते अनुमदाम संगमे।
आजा न इन्द्र मनसा पुरुष्टुत त्वायद्भ्यो मघवन् शर्म यच्छनः॥

इन्द्र! अपने अन्तः करण से हम तुम्हारी बहुत स्तुति करते हैं। तुम्हारे जिस विजयी रथ को शत्रुओं के युद्ध में देख कर हम प्रसन्न होते हैं हमारे धन लाभ के लिये उसी रथ की प्रेरणा करो। मघवन् हम तुम्हारी कामना करते हैं हमें सुख दो।

त्वां देवेषु प्रथमं हवामहे त्वं बभूथ पृतनासु सासहिः।
सेमन्नः कारुमुपमन्युमुद्भिदमिन्द्रः कृणोतु प्रसवे रथं पुरः॥

तुम देवों में प्रथम हो, तुम संग्राम में शत्रुजयी हो, हम तुम्हें बुलाते हैं, तुम हमारे युद्ध योग्य तेजस्वी और विभेदकारी रथ को संग्राम में अन्य रथों के आगे करो।

पुराण-गाथा

गतांक से आगे

हिरण्यकशिपु का तप।

[ले०-श्री स्वामी भोले बाबाजी]

नारद-हे शौनक! अपनी माता दिति और अपने भाई हिरण्याक्ष की पत्नी को समझा कर और उनका शोक दूर करके हिरण्यकशिपु अपने मनमें इस प्रकार विचार करने लगा:-

हिरण्यकशिपु-(मनमें) मेरे शत्रु देवताओं ने मेरे भाई हिरण्याक्ष को विष्णु के हाथों से मरवा डाला है, मुझे अपने भाई का बदला देवताओं से लेना चाहिये, बदला लेने के लिये सामर्थ्य है, मेरे सामने देवता तुच्छ हैं, एक विष्णु के सिवाय अन्य कोई देवता मेरे सन्मुख युद्ध करने को समर्थ नहीं है फिरभी विद्वानों का वचन है कि छोटे शत्रु को भी तुच्छ न समझना चाहिये, छोटासा मच्छर वनके राजा सिंह को अपने छोटे से डंक से तंग कर देता है, एक तुच्छ शृगाल ने अपनी चतुराई से सिंह को मार डाला था, उसकी कथा लोक में इस प्रकार प्रसिद्ध है:-

एक वनमें एक बलवान् सिंह रहता था, वनके पशुओं में से एक या दो को प्रति दिन मार कर खाजाया करता था। सब पशुओं में मिलकर एक दिन सिंह से इस प्रकार प्रार्थना करि कि हे वनके राजा! आप किसी पशु को न मारा करें, हम सब बारी २ से एक पशु आपके लिये भेजदिया करेंगे। सिंह राजी हो गया और वे एक पशु को प्रति दिन भेजने लगे। कुछ दिन तक यह व्यापार चालू रहा। एक दिन एक शृगाल की बारी आयी, तो वह सिंह के पास देर से पहुंचा। सिंहने देर होने का कारण पूछा, तो कहने लगा कि मुझे एक सिंह ने मार्ग में रोक लिया था, मैंने आपका नाम लिया, तो उसने मुझे आने न दिया, मुझे खाना चाहता था, ज्यों त्यों भाग कर आया हूं, देर होगयी, हे स्वामिन्! मेरा इसमें कुछ अपराध नहीं है। सिंह बोला मैं इस वन का राजा हूं, दूसरा कौन आगया जो मेरे भोजन को रोकता था, मुझे, उसके पास ले चल, तेरे बदले उसीको खाकर आज मैं अपनी क्षुधा को शान्त करूंगा।

शृगाल आगे २ और सिंह पीछे २ दोनों चलदिये। शृगाल ने सिंह को लेजाकर एक कूएं के ऊपर खड़ा करदिया और कहा कि इसमें सिंह बैठा हुआ है। सिंह ने झुक कर देखा, तो उसे अपना प्रतिबिम्ब दिखायी दिया। शत्रु को देखते ही उसे क्रोध आगया, क्रोध में बुद्धि बिगड़ जाती है, गर्जने लगा। कुऐं में से गर्ज की प्रतिध्वनि हुई, समझा कि दूसरा सिंह गर्जता है, आगा पीछा कुछ नहीं विचारा, तुरन्त ही उसे मारने के लिये

कुऐ में धम से कूद पड़ा और शत्रु के मारने के बदले आप ही अपनी जान खो बैठा! शृङ्गाल हंसता हुआ चला गया और अपने भाइयों को खुश-खबरी सुनाने लगा! सबने उसकी प्रशंसा करी और बहुत ही उसका उपकार माना।

सच है कि शरीर के बल से बुद्धि का बल श्रेष्ठ है। सब प्रकार का बल तप करने से आता है, बल क्या, कोई भी वस्तु बिना तप के प्राप्त नहीं होती, सब वस्तुओं की प्राप्ति के लिये तप करना चाहिये। जिसको जो सामर्थ्य प्राप्त हुआ है अथवा होता है, वह तप से ही हुआ है और होता है। ब्रह्मा तप करके सृष्टि की उत्पत्ति करने को समर्थ होते हैं, तप से ही विष्णु सब दैत्यों को जीत कर देवताओं का और सृष्टि का पालन करते हैं और रुद्र तप से ही सृष्टि का संहार करने को समर्थ होते हैं। इसलिये मुझे देवताओं को जीतने के लिये तप करना योग्य है।

ऐसा विचार कर हिरण्यकशिपु अपने को अजर अमर अप्रतिद्वन्द्व महाराजा बनाने के लिये मदराचल पर्वत की गुफा में जाकर परम दारुण तप करने लगा।

शौनक-हे देवर्षे! तप कितने प्रकार का है।

नारद-हे ऋषे! कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तप तीन प्रकार का है। शौच सरलता वृद्ध पुरुषों की सेवा, ब्रह्मचर्य, और अहिंसा, ये कायिक तप हैं, सत्य, प्रिय, हितकारी वाक्य बोलना दूसरे के मन को पीड़ा देने वाला वचन न बोलना और सत्शास्त्रों का अध्यन करना वाचिक तप है और प्राप्ति अप्राप्ति में मनको प्रसन्न रखना, सौम्य यानी नम्र रहना, संकल्प विकल्प न करना, मन को वश में रखना और सबसे प्रेम करना ये मानसिक तप हैं। सात्विक, राजस और तामस भेद से ये तप भी तीन प्रकार के हैं। ईश्वर की प्राप्ति के लिये तप करना, सात्विक तप है, सत्कार मान और पूजा की प्राप्ति के लिये तप करना राजस तप है और दूसरों को पीड़ा देने के लिये अपने को पीड़ा देकर तप करना तामस तप है। राजस और तमाम तप त्यागने योग्य और सत्विक तप ग्रहण करने योग्य है। तत्व विचार भी मानसिक तप है, यह सर्वोत्तम तप है, इसी तप के बलसे ब्रह्मादिक सृष्टि की उत्पत्ति आदि करते हैं और फिर भी निर्लेप रहते हैं। इस तप को जो कोई भी करता है, वह सर्व कर्म करता हुआ भी अकर्ता ही रहता और परम पद को प्राप्त होता है। पंचाग्नि तपना, कृच्छ्र चान्द्रायण, एकादशी उपवास करना, ये भी शास्त्रोक्त तप हैं और स्थूल शरीर की शुद्धि करने वाले हैं, आप कामना वाले इस तपों को करते हैं, जिन तपों का शास्त्र में विधान नहीं है, ऐसे तपों को करके काया को सुखाना और अंतर्यामी ईश्वर को कष्ट देना, ये आसुरी प्रकृति वालों के तप हैं और सर्वथा त्याज्य हैं।

हे शौनक! हिरण्यकशिपु ने जैसा तप किया उसको कहता हूं। सुनो वह तो पैर के एक अंगूठे से पृथवी के ऊपर खड़े होकर आकाश की तरफ दृष्टि करके और भुजाओं को ऊंची करके तप करने लगा। उसकी जटायें खुली हुई थीं, जैसे प्रलय काल का सूर्य किरणों से शोभा पाता है। इसी प्रकार वह बढ़ी हुई जटाओं से कान्ति वाला दिखायी देता था। जब हिरण्यकशिपु तप करने लगा, तो उसके स्थानों में देवता वास करने लगे। हिरण्यकशिपु के तप करने से उसके मस्तक से निकला हुआ तपं-मय अग्नि धूम सहित सब दिशाओं में फैलगया और ऊपर नीचे और चारों तरफ के लोकों को तपाने लगा। उसके तप से नदी और समुद्र उछलने लगे,

पर्वतों सहित पृथिवी हिलने लगी, ग्रहों सहित तारे गिरने लगे और दशों दिशायें जलने लगीं, उसके तपसे तपे हुए देवता स्वर्ग में ठहर न सके और ब्रह्म लोक में जाकर ब्रह्माजी से कहने लगे।

देवता–हे देवों के देव! हे जगत्पते! दैत्येन्द्र के तप के अग्नि से तपे हुए स्वर्ग में ठहरने को समर्थ नहीं हैं, हे सर्वाधिपते! आपके पूजन करने वाले लोक जब तक नष्ट न हों उससे पहिले ही यदि आप उचित समझें तो हे भूमन्! उसको शान्त कर दीजिये! जिसके लिये वह दुश्चर तप कर रहा है, उसके उस संकल्प को आप जानते ही हैं, फिर भी हम आपसे कहते हैं, सुनिये, उसका संकल्प है कि परमेष्ठी ब्रह्मा इस चराचर जगत् को उत्पन्न करके सर्व से श्रेष्ठ अपने आसन पर विराजमान होते हैं, उसी आसन को मैं तप, योग और समाधि से अपने लिये सिद्ध करूंगा, यदि एक जन्म में नहीं कर सका, तो कई जन्मों में सिद्ध करलूंगा क्योंकि काल नित्य है जब मैं इस जगत् को ही उत्पन्न करने लगूंगा तो, वैष्णवादि पदों से मुझे क्या अयोजन है, क्योंकि वे तो कल्प के अन्त में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार आपका पद लेने का उसका आग्रह है, ऐसा हमने सुना है, इसीलिये वह तप कर रहा है। हे तीनों भुवनों के ईश्वर! अब आप जैसे उचित समझें वैसा कीजिये! हे जगत्पते! इतना ही हमारा कहना है कि आपका आसन ब्राह्मणों और गौओं के उद्भव के लिये, सुख के लिये, ऐश्वर्य के लिये, पालन के लिये और विजय के लिये है, यदि आपका स्थान भ्रष्ट हो गया, तो साधुओं का अनिष्ट हो जायगा, यह शोच है।

जब देवताओं ने इस प्रकार प्रार्थना करी, तब भृगु दक्षादि सहित ब्रह्मा जी दैत्यराज के आश्रम पर गये। वहां जाकर क्या देखते हैं कि हिरण्यकशिपु बांबी, तृण आदि से ढका हुआ होने से प्रथम तो दिखायी ही नहीं दिया और जब दिखायी दिया तो मालूम हुआ कि दीमक ने उसके मेद, त्वचा, मांस और रक्त को खा लिया है। जैसे बादल में सूर्य ढक जाता है। इसी प्रकार उसके तप से लोकों को तपता हुआ देख कर विस्मित होकर हंसवाहन ब्रह्माजी हंसते हुए कहने लगे।

ब्रह्माजी–हे कश्यप के पुत्र! तेरा कल्याण हो, तेरा तप पूर्ण होगया, खड़ा होजा खड़ा होजा! मैं वर देने वाला आगया हूं, इच्छित वर मांग! तेरी देह को डांसों ने खा लिया है, तेरा प्राण हड्डियों में चल रहा है, तो भी तू तप से चलायमान नहीं हुआ, मैं तेरे धैर्य को जानता हूं, ऐसा तप पूर्व ऋषियों में से किसी ने नहीं किया और न अन्य ऋषि आगे करेंगे! भला! दिव्य सौ वर्ष तक बिना जल के प्राणों को कौन धारण कर सकता है? कोई नहीं धारण कर सकता! धीर पुरुषों को भी ऐसा तप करना दुष्कर है! तूने मुझे अपने तप से जीत लिया है। मैं तेरी सब इच्छाओं को पूर्ण करूंगा! तुझ मरणशील को मुझ अमरदेव का दर्शन निष्फल नहीं होगा।

हे शौनक! इतना कहकर ब्रह्माजी ने कमंडलु के दिव्य जल को दीमक के खाए हुए उसके अंग पर छिड़का ऐसा करने से हिरण्यकशिपु इन्द्रियों के बल से, मन के बल से और शरीर के बल से युक्त सर्व अवयवों से संपन्न और वज्र के देह के समान युवा होगया और जैसे तपे हुए सुवर्ण की कान्ति वाला अग्नि हो ऐसी कान्तिवाला होगया, उसने आकाश में हंस वाहन देव को खड़ा हुआ देखकर पृथ्वी पर शिर झुकाकर नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर प्रेम की दृष्टि से ब्रह्माजी को देख कर, हर्ष के आंसुओं से पुलकित शरीर होकर

गद्गद वाणी से इस प्रकार से कहा:-

हिरण्यकशिपु-कल्प के अन्त में यह जगत् अन्धकार रूप तम से ढक जाता है, उस अन्धकार से ढके हुए इस जगत् को जो स्वयं ज्योतिदेव अपने आकाश से प्रकट करता है उस देव को नमस्कार है जो देव त्रिगुण रूप होकर इस जगत् को उत्पन्न करता है, रक्षा करता है और संहार करता है, उस रज, सत्त्व और तमो गुण के धाम परमेश्वर को नमस्कार है। आद्य बीज के लिये नमस्कार है। ज्ञान विज्ञान मूर्ति के लिये नमस्कार है। प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप विकारों से व्यक्ति को यानी कार्य आकार को प्राप्त हुए के लिये नमस्कार है। आप प्रजाओं के पति हैं, स्थावर और जंगमल जातियों को मुख्य प्राण द्वारा नियम में रखते हैं। आप चित्त के चित्त हैं; मन और इन्द्रियों के धर्म हैं, महान् हैं, भूत, गुण और अंतःकरण के ईश हैं। आप तीनों वेदों में बतायी हुई चातुर्होत्रिक क्रिया विषयक विद्या द्वारा अग्निष्टोम आदि सात यज्ञों का विस्तार करते हैं। आपही प्राणियों के अंतरात्मा यानी अंतर्यामी हैं, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं, अखण्ड हैं, अनादि हैं, इसलिये काल से आपका अन्त नहीं होता और अपार हैं, इसलिये देश से आपका अन्त नहीं होता। आप काल रूप होकर अवयवों से लोकों का संहार करते हैं यानी दिन रात द्वारा धीरे २ सबकी आयु का क्षय कर देते हैं। यद्यपि आप ज्ञान रूप, सबके आत्मा परमेश्वर जन्म रहित अपरिच्छिन्न होने से निर्विकार हैं, फिरभी सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं, क्योंकि आप जीवलोक के जीव यानी जीवन के हेतु हैं और आत्मा यानी नियंता हैं, जितना भी कारण कार्य रूप चर अचर जगत् है, आप के सिवाय कुछ नहीं है, आप ही सब कुछ हैं। यदि आप कहें कि मुझे जताने वाला शास्त्र मुझ से भिन्न है, फिर मेरे सिवाय अन्य कुछ क्यों नहीं है, क्योंकि वेद, उपवेद आदि जितनी विद्यायें हैं, वे सब आपके अंग हैं, इसलिये आपसे भिन्न कुछ नहीं है, क्योंकि आप ब्रह्म यानी बृहत हैं, हिरण्य रूप ब्रह्मांड आपके गर्भ में हैं और त्रिगुणात्मक अधान से आप पर हैं जैसा कि श्रुति कहती है कि ब्रह्म अक्षर से, पर से पर है। यदि आप कहें कि जब मुझ जीवका ब्रह्मांड शरीर है, तो मेरा ब्रह्मत्व कैसे है। इस का उत्तर यह है कि आप विभु का यह स्थूल शरीर व्यक्त यानी कार्य है, इस शरीर से आप इन्द्रिय, प्राण और मनके गुणों को आप अपने धाम में यानी स्वरूप में स्थित होकर ही भोगते हैं, क्योंकि आप अव्यक्त आत्मा यानी निरुपाधिक ब्रह्मही पुराण पुरुष हैं। हे अनघ आप एक हैं, आपने अव्यक्त रूप से यानी मन वाणी के अगोचर रूप से इस विश्व को व्याप्त कर रक्खा है आप चेतन अचेतन शक्तियों से युक्त हैं, आप भगवान् के लिये मेरा नमस्कार है। हे प्रभो! हे वरदाओं में उत्तम! यदि आप मुझे मेरा इच्छित वर देते हैं, तो मुझे वरदीजिये कि आपके रचे हुए भूतों में से किसी से मेरी मृत्यु न हो! न बाहर, न भीतर, न दिनमें, न रातमें, न भूमि में, न आकाश में, न नरों से, न मृगों से, न प्राणरहित से, न अध्वरी से, न सुरों से, न असुरों से, न उरगों से और न किसी अन्य हथियार से मेरा मरण हो किंतु जैसे आपकी महिमा है, इसी प्रकार मैं एक ही सबका स्वामी होऊं और युद्ध में कोई मुझे जीत न सके तप और योग के प्रभाव वाले सब लोकपालों का ऐश्वर्य मुझे प्राप्त हो और कभी नष्ट न हो! ऐसा वर मैं आपसे मांगता हूं।

पाठक! इस प्रकार वर मांग कर हिरण्यकशिपु चुप हो गया, ब्रह्मा जीने उसे जो वरदिया,

उसे आगे के लेख में दिखावेंगे। इस गाथा से शिक्षा मिलती है।

कुं-सात्विक तप सादर करे, त्याग देय अभिमान।
रागद्वेष तजि सर्व में, देखे ईश समान॥
देखे ईश समान सर्व का श्रेय विचारे।
देय काहु ना दुख, सत्य हित वचन उचारे॥
गीता के अनुसार, करे तप वाचिक कायिक।
तथा मानसिक नित्य, वही तप भोला सात्विक॥

सुख का मार्ग

युधिष्ठिर-हे पितामह! मेरी इच्छा सब आश्रमों का कल्याण करने वाला सुख का मार्ग सुनने की है। आप सकल शास्त्रों के ज्ञाता हैं, सब प्रकार के धर्मों को जानने वाले हैं। अतः आप मुझे सुख का मार्ग बताने की कृपा करें।

भीष्म-वेद में सब आश्रमों के धर्म कहे हैं और उनका फल मरण के पश्चात् मिलता है, इस लिये वह अदृष्ट फल वाला धर्म कहलाता है। परन्तु श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप तपस्या से परमात्मा के साक्षात् स्वरूप का जो ज्ञान होता है वह दृष्ट फल वाला है क्योंकि उसका फल जीवित दशा में मिलता है अर्थात् इस लोक में रह कर ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है। धर्म कर्म अनेकों प्रकार के हैं और उनका फल भी मिलता है और वे कर्म चित्त शुद्धि द्वारा मोक्ष भी देते हैं। परन्तु उनके फल इस देह से भोगने में नहीं आते और ज्ञान का फल इस देह से ही भोगा जा सकता है, इसलिये कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है। जिस २ पुरुष को जिस २ विषय का निश्चय पूर्वक ज्ञान होता है वह २ पुरुष उस २ विषय को अपने कल्याण करने वाला मानता है दूसरे को नहीं। पुरुष ज्यों ज्यों इस संसार के फैलाव को तृण के समान समझता है त्यों २ उसको इस जगत् के ऊपर वैराग्य उत्पन्न होता है। हे युधिष्ठिर! वृक्ष आदि स्थावरों से लेकर सत्य लोक पर्यन्त घटना बढना ऐश्वर्य, प्रभुता, नाश होना, दुःख भोगना आदि अनेक दोष भरे हुवे हैं। ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष को अपने मोक्ष के लिये उद्योग करना चाहिये।

युधिष्ठिर-हे पितामह! जब धनका नाश हो जाय, पिता, पुत्र, स्त्री इनमें से कोई मर जाय उस समय कौन ऐसा पुरुष है जो शोक नहीं करता। इस अवस्था में मोक्षार्थ कोई कैसे उद्योग कर सकता है। अतः जिस बुद्धि से शोक दूर किया जा सके वह कृपया आप मुझे कहिये।

भीष्म-धनादि तथा स्त्री, पुत्र के नाश होने पर यह सब जगत् दुःख रूप है ऐसा ध्यान करता हुवा शोक को दूर करने के लिये शम, दम आदि का साधन करे। मैं इस विषय में एक पुरातन इतिहास तुमको सुनाता हूं।

एक समय में सेनजित नाम का एक राजा

था। वह अपने पुत्र के मरण पर बड़ा दुःखी हो रहा था, उस समय उनके एक ब्राह्मण मित्र ने शोक से बेहाल हुये उस ब्राह्मण राजा को कहा कि "तू संसार के ऊपर क्यों मोहित हो रहा है, तू मुझे मूढ़ मालूम होता है। अरे! तू तो आपही शोक करने योग्य है फिर तू दूसरे का शोक क्यों करता है। जो तेरा शोक करने वाले हैं, वे भी तेरी ही दशा को पावेंगे और दूसरों के शोक करने योग्य हो जांयगे। हे राजन! तू, मैं, जो तेरी सेवा करते हैं वे सब और यह समस्त संसार के प्राणी यहां ही चले जांयगे जहां से आये हैं"। राजा ने पूछा हे ब्राह्मण! यह कौनसी बुद्धि है? कौनसा तप है? कौनसी समाधी है? कौनसा ज्ञान है? और कौनसा शास्त्र का पढ़ना है जिसको पाकर तुम खेद नहीं करते हो?

ब्राह्मण–हे राजन! इस संसार के उत्तम, मध्यम और अधम सब प्राणियों को देखो जो कि दुःखदायक नाना कर्मों में लगे हुये हैं। जिसकी "मैं" कहने से प्रतीति होती है ऐसे आत्मा को भी अपना नहीं समझता था। यह सब पृथिवी भी मेरी है ऐसा मैं नहीं मानता। और जैसे मेरी नहीं है वैसे ही दूसरों की भी नहीं है ऐसा विचार करने के कारण मुझे व्यथा नहीं होती है। इस विचार से मैंने अहंता ममता को त्यागने वाला ज्ञान पालिया है। इसी कारण से सुख होने पर हर्ष और दुःख होने पर शोक नहीं होता।

यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महार्णवे।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वज्जूतसमागमः॥
एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि नः॥

जैसे महासागर में कर्म योग से इधर उधर से दो काष्ठ बहते बहते आकर इकट्ठे हो जाते हैं और फिर तरङ्गों द्वारा पृथक् २ हो जाते हैं ऐसे ही कर्म योग से पुत्र, पौत्र, ज्ञाति बान्धव इधर उधर से आकर इकट्ठे हो जाते हैं और फिर कर्म भोग पूरा हो जाने पर जुदे २ हो जाते हैं अर्थात् मरण को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये इसके साथ स्नेह नहीं करना चाहिये क्योंकि इनसे एक दिन वियोग अवश्य ही होना है।

तेरा पुत्र न जाने कहां से अकस्मात् आगया तू इस बात को समझ भी नहीं सका और फिर अकस्मात् ही न जाने कहां अदृश्य होगया, इस बात को तू समझ नहीं सकता। जन्म से पहले वह तुमको नहीं जानता था और तू उसको नहीं जानता था, बता तू उसका कौन लगता है? कैसा शोक करता है? शोक सन्ताप तृष्णा की पीड़ा में से उत्पन्न होता है और इच्छा पूर्ण होने से उस दुःख का नाश होते ही फिर सुख उत्पन्न हो जाता है तथा उस सुख में से ही फिर दुख उत्पन हो जाता है इस प्रकार बार २ दुःख हुवा करता है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख होता है। इस प्रकार मनुष्यों के सुख दुःख चक्र की समान घूमते रहते हैं। तुझे सुख दुःख प्राप्त हुवा है अब तू दुःख में से फिर सुख पायेगा। कोई भी प्राणी न ही तो सदा सुख ही पाता है और न दुःख ही। सुख का स्थान भी यह शरीर ही है और दुख का स्थान भी यह शरीर ही है। देहाभिमानी पुरुष जिस देह से कर्म करता है उस देह से ही सुख दुःख रूप कर्म का फल भोगता है। शरीर के नाश के साथ ही सुख दुःख का भी नाश हो जाता है। जीवन का हेतु लिंग शरीर स्थूल शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और दोनों अनेकों रूपों में रहकर कर्म करते हैं और मोक्ष काल में दोनों एक साथ ही नष्ट

होजाते हैं। मनुष्य स्नेह की अनेकों प्रकार की फाँसियों में बन्ध जाते हैं और अपने आरम्भ किये हुवे कार्यों को पूरे करने से पहले ही जैसे बालू के बनाये बाँध जलसे नष्ट होजाते हैं तैसे ही नष्ट हो जाते हैं। तिलों में स्नेह रहता है। इसलिये तेली जैसे तिलों को कोल्हू में डालकर पेलता है तैसे ही यह सब जगत् भी स्नेह के वश में है। इसलिये अज्ञान से उत्पन्न हुवे क्लेश इस सब जगत् को संसार कोल्हू (चक्र) में डाल कर पेलते हैं। मनुष्य स्त्री आदि का पालन पोषण करने के लिये चोरी आदि अशुभ कर्मों का संग्रह करता है परन्तु इस लोक में और परलोक में मनुष्य उन कर्मों के फल रूप क्लेशों को अकेला ही भोगता है। चोरी आदि के धन का सुख तो स्त्री आदि सब भोगते हैं परन्तु उस पाप के फलको मनुष्य अकेला ही भोगता है। बनके बूढे हाथी जैसे कीच के समुद्र में डूब जाते हैं ऐसे ही सब मनुष्य स्त्री पुत्र आदि कुटुम्ब में आसक्त होकर शोक सागर में डूबते हैं। हे राजन्! पुत्र का मरण होने पर धनका तथा जाति वालों का और सम्बन्धियों का नाश होने पर मनुष्य को दावानल के समान महा दुःख होता है। परन्तु सुख होना, दुःख होना, ऐश्वर्य मिलना अथवा धन का नाश होना यह सब दैवाधीन हैं। मित्रहीन अथवा मित्रों वाला, शत्रु हीन अथवा शत्रुओं वाला बुद्धिमान् और बूढे यह सब दैवयोग से ही सुख दुःख भोगते हैं न मित्र सुख दे सकता है और न शत्रु दुःख। बुद्धि धन नहीं दे सकती और धन सुख नहीं दे सकता। सब दैव की ही सहायता से ही होता है। बुद्धि धन का लाभ नहीं कराती और मूर्खता धनका नाश नहीं कराती। इस जगत् की रचना के सिद्धान्त को केवल बुद्धिमान् मनुष्य ही जानता है मूर्ख नहीं जानता। बुद्धिमान् वीर, मूढ, डरपोक, जड़, दीर्घसूत्री, दुर्बल और बलवान् इनमें से जो कोई भाग्यवान् होता है उसको ही सुख मिलता है। एक ही गौ बछड़े की भी है ग्वालिये की भी है, मालिक की भी है और चोर की भी है। परन्तु निश्चित बात यह है कि जो उसका दूध पीता है गौ उसकी ही है। जो लोग किसी गौ से लाभ नहीं उठाते वे उसकी ममता के बन्धन में भी नहीं रहते। किसी मनुष्य को अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तु की लालसा नहीं करनी चाहिये। एक भूखे प्यासे थके हुवे मनुष्य को सौ गौवों की अपेक्षा यदि थोड़ा सा अच्छा दूध मिल जाय तो अधिक काम का है। अन्न के भरे हुवे सौ कोठों की अपेक्षा मुट्ठी भर खीलें अधिक काम की हैं। बड़े भारी महल की अपेक्षा आधी खाट अधिक कामकी है। सार यह है कि पदार्थ का मूल्य और स्वामित्व समय पर काम में आ जाय तब ही है।

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

इस जगत् में जो मनुष्य महामूर्ख होते हैं या जो बुद्धि के पारङ्गत होते हैं वे ही सुख पाते हैं और न मूर्ख ही होता है न बुद्धिमान् ही होता है वह मनुष्य क्लेश ही पाता है। जो विवेकी होते हैं उनको सुषुप्ति और तुरीया अवस्था में आनन्द प्राप्त होता है परन्तु जाग्रत और स्वप्न अवस्था में आनन्द नहीं होता। सुषुप्ति और तुरीया अवस्था की प्राप्ति को ऋषि सुख रूप कहते हैं और जाग्रत् और स्वप्न अवस्था को दुःख रूप कहते हैं। जिन्होंने बुद्धि का सुख समाधि को पालिया है, जो संसार के दुःख के भावों से रहित तथा जो मत्त-रता से रहित होते हैं उनको अर्थ की प्राप्ति हो चाहे अर्थ की हानि किसी प्रकार का भी सुख दुःख नहीं

होता। जिन्होंने समाधि को प्राप्त नहीं किया किन्तु शास्त्र के ज्ञान से मूढ़ता का उल्लंघन किया है वे अत्यन्त हर्ष और अत्यन्त सन्ताप के वश में हो जाते हैं। जिनके चित्त को काम आदि ने घेर लिया है तथा बड़ा भारी गर्व और दूसरों का पराजय करने के कारण से महामूढ बन गये हैं वे सदा ऐसे प्रसन्न रहते हैं जैसे स्वर्ग में देवता। ऐसा सुख अन्त में दुःख रूप हो जाता है। प्रमाद दुःख रूप है और कार्य कुशलता सुख का कारण है। विभूति और लक्ष्मी विचारशील मनुष्य में रहती है आलसी में नहीं। सुख हो चाहे दुःख हो अच्छा लगे चाहे बुरा, जैसी भी दशा आकर पड़े उसको हृदय से हारे बिना भोगे। मूढ मनुष्य को शोक करने के हजारों स्थान हैं परन्तु विचारवान् पण्डित के ऊपर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। बुद्धिमान, आगे पीछे का विचार करने में चतुर, शास्त्र को जानने वाले, ईर्षा रहित, मन को वश में रखने वाले और जितेन्द्रिय पुरुष को शोक नहीं होता। विद्वान् मनुष्य ऐसी बुद्धि का आश्रय लेकर चित्त की रक्षा करता हुवा संसार का व्यवहार चलावे। जो मनुष्य जगत् की उत्पत्ति और लय के स्थान रूप परब्रह्म को जानता है उसको शोक नहीं छू सकता। जिसके कारण से शोक, सन्ताप, दुःख होता हो वह यदि अपने शरीर का अङ्ग भी हो तो भी उसको त्याग देवे। जब स्त्री आदि किसी पदार्थ पर ममता होती है तब वे ही सब पदार्थ शोक और सन्ताप कराने वाले हो जाते हैं। मनुष्य विषयों में से जिस जिस विषय को त्यागता जाता है उसको उतना ही सुख मिलता जाता है परन्तु जो मनुष्य विषयों के ही पीछे लगा रहता है वह विषयों के नाश के साथ स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इस जगत् में काम से होने वाला जो सुख है और जो महान दिव्य सुख है ये सब सुख तृष्णाक्षय के सुख की १६ वीं कला के समान भी नहीं हो सकते। पहले जन्म के शरीर से शुभ वा अशुभ जो कुछ भी कर्म किया जाता है वैसा ही फल दूसरे जन्म में मनुष्य को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवश्य ही प्रिय लगने वाले सुख और अप्रिय लगने वाले दुःख जीवों का उलट फेर किया करते हैं। ऐसे ज्ञान को पाकर तृष्णा रहित हुवा मनुष्य सुख में रहता है। इसलिये सब कामनाओं की निन्दा करे और उनको त्याग देवे। काम हृदय से उत्पन्न होता है और विकट मृत्यु रूप माना जाता है, वह काम यदि किसी कारण से जीता नहीं जाता है या सिद्ध नहीं होता है तो क्रोध रूप बन जाता है। जैसे कछुवा अपने सब अंगों को अपने शरीर में सकोड़ लेता है है, ऐसे ही मनुष्य जब अपनी सब कामनाओं को सकोड़ कर मन की मन ही में रहने देता है तब स्वयं अपने अन्तःकरण में अपने स्वरूप को देखता है। मनुष्य जब किसी से नहीं डरता है और उससे भी दूसरे नहीं डरते हैं, स्वयं किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता है तथा किसी से द्वेष नहीं करता है तब वह ब्रह्म को पाजाता है। जब तू सत्य और असत्य को, शोक और आनन्द को, भय और अभय को तथा प्रिय और अप्रिय को त्याग देगा तब तू परम शान्तात्मा हो जायगा। धीर मनुष्य जब मन, वाणी और कर्म से किसी प्राणी का भी अहित नहीं करता है तब ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होजाता है। दुष्ट बुद्धि वाले जिसको त्याग नहीं सकते, मनुष्य के बुड्ढा हो जाने पर भी जो बूढ़ी नहीं होती और जो प्राणान्त होने तक जीवन भरका रोग है उस तृष्णा को जो त्याग देता है वही सुख पाता है। आशा रहित मनुष्य सुख से सोता है, आशा त्याग देना बड़ा भारी सुख है।

भीष्म–हे युधिष्ठिर! उस ब्राह्मण के कहे हुये हेतु भरे वचनों को सुनकर सेनजित को ज्ञान होगया और वह सुखी होकर आनन्द में जीवन बिताने लगा।

अभिलाषा

[ले०–प्रभुदत्त ब्रह्मचारी आश्रम]

नाथ तुम्हारे चरण कमल पर जीवन पुष्प चढ़ाता हूं।
इस छोटी सी प्रेम भेंट से तुम को शीश नवाता हूं ॥ १ ॥

सारी विश्व विभूति को मैं नश्वर माया कृत मानूं।
तेरी अनुपम रूप सम्पदा से जग को विकृत जानूं ॥ २ ॥

टकटक देख रहा हूं तेरी अविचल नैनों से ज्योती।
पिरो रहा हूं इस जीवन की माला में तेरे मोती ॥ ३ ॥

कर्ण पुटों से सतत तुम्हारे श्रवण करूं मैं गुण गण गान।
बलि वेदी पर नाथ! आपकी न्योछावर करदूं यह प्रान ॥ ४ ॥

नहीं हृदय में चाह रहे मैं जग में ऊंचा बन जाऊं।
अभिलाषा हो कभी नहीं कि देवाधिप का पद पाऊं ॥ ५ ॥

प्रभो! तुम्हारी चरण रेणुका प्रतिपल शीश चढ़ाऊं मैं।
तुम ज्योति में ज्योति मिलाने के हित हाथ बढ़ाऊं मैं ॥ ६ ॥

कर्तव्य

[ले०—श्रीमती सूरजदेवी "प्रभाकर"]

प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति के प्रेमी होते है परन्तु उसके साधन ज्ञान से वंचित होते हैं अतः परमोन्नति के साधन रूप कर्तव्यों का ज्ञान हमको सम्यक् प्रकार से जानने का उद्योग करना चाहिये। हमें पहिले कर्तव्य का अर्थ भली प्रकार जान लेना चाहिये। यह महान् एवं गम्भीर विषय है इसका समझना चबेना चबाना नहीं है किन्तु टेढी खीर है। क्योंकि इसके विषय में हमारे पूज्य, माननीय नीतिविशारद श्री कृष्ण भगवान् ने स्वयं अपने मुखारविन्द से इसकी गहनता वर्णन की है। यथाः—

किंकर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

कर्म क्या है अकर्म क्या है इस विषय में बड़े बड़े पंडित भी चक्कर में पड़ते हैं, इसलिये तेरे प्रति वह कर्म कहता हूं जिसको जानकर तू अशुभ से छूट जायगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

कर्म, अकर्म और विकर्म जानने योग्य हैं क्योंकि कर्म की गति अति गहन है। कर्तव्य की महिमा अपार है। इसकी महिमा का मर्मज्ञ होना मानो अपने जीवन के परमोत्तम, चरमोत्तम तत्व का ज्ञाता होना है। कर्त्तव्य का साधारण अर्थ है करने योग्य कर्मों का करना इस संसार में मनुष्य का आविर्भाव कुछ करने के लिये ही हुआ है और उन कर्मों का पालन करना ही कर्तव्य है। पाठकगण विचारेंगे जिसको समझने के विषय में श्री भगवान् ने गम्भीरता बतलाई है उसका समझना सरल कहां? हां! शंका तो ठीक है परन्तु "जनता एव जनार्दनः" और शास्त्र में लिखा है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी ही आत्मा के रूप में बनाया है और बुद्धि, शक्ति और ज्ञान दिया है जिससे मनुष्य गहन विषय में प्रविष्ट हो सकता है। करणीय कर्म अनेक हैं और इनके साधन भी तीन हैं मन वाणी और कर्म। दीन दुःखियों की सहायता करना, भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना। डरे हुये को निर्भय करना, गिरे हुये को उठाना, साधु जन की रक्षा, दुष्ट जनको शिक्षा देना, न्याय पर दृढ़ रहना, आश्रित जन पर दया प्रेम रखना, स्वयं विद्या पढ़ना, शिक्षा ग्रहण करना, सत्य बोलना, ईश्वर चिन्तन करना, प्रेम रखना, चोरी से डरना आदि अनेक कर्म हैं परन्तु जिस अवसर पर जो करने योग्य है वह करना कर्तव्य कहलाता है और इसी मौके पर मनुष्य विचलित हो जाता है।

प्रत्येक बात कहनी जितनी सरल है करना उतनी ही कठिन है, अतः कर्तव्यशील इस कठिनाई का मुकाबला करने को सदैव कटिबद्ध रहते हैं, कर्तव्य को पालन करने में अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं वह आनन्द सांसारिक आनन्द से

बढ़ कर होता है। कर्तव्य में तत्पर रहने से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकता है और जड़ अक्षरों का नाम अमर कर सकता है। हम यदि विचार दृष्टि से चारों ओर बाह्य और आभ्यन्तर नेत्रों से देखते हैं तो हमको चहुं ओर कर्तव्यशील की मुसकराती हुई मूर्तियां नजर आती हैं।

सूर्य, चांद, पवन जल, अनलतारे, सीता, दमयन्ती, सावित्री, शकुन्तला और शैव्य आदि, युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र तथा जड़ वस्तु भी कर्तव्य के सामने अपनी जड़ता को नहीं दिखलाती हैं, पुष्प खिलता है, खुशबू देता है और मुरझाता है। चाहे उनको कोई देखे या न देखे प्यार करे या न करे कर्तव्य में संलग्न है।

कर्तव्य की कठोरता बड़ी अद्भुत है साधारण जन उसकी विलक्षणता को नहीं जानते परन्तु जो कर्तव्य पथपर आरूढ़ हैं और जिन्होंने उसको कर दिखाया है वे ही जानते हैं। कर्तव्य के सामने मनुष्य दुख सुख की, हानि लाभ की और जीवन मरण तक की पर्वाह नहीं करता है। कर्तव्य में ऐसी क्या मधुरता और क्या मोहकता है जो इन सब कठोर और विलक्षणता को रखते हुऐ भी मनुष्य द्वारा अति उत्साह और प्रेम के साथ पालन किया जाता है? निःसन्देह उसमें मीठी और कोमल मधुरता और वशीकरण मंत्र सदृश मोहकता है जिस माधुर्य से मोहित होकर सब प्राणी ज्वर में मिक्चर और फोड़े पर चीरे की भांति कष्टों का सामना करते हैं जिसको वर्णन करने में वाणी तो मौन है हां विचार मगन और अनुभवी इसका उत्तर मन से पा सकते हैं। कर्तव्य की प्रेरणा परम पिता परमात्मा के द्वारा अन्तरध्वनि से होती है। इसको पालन करने में कैसी शान्ति सुख और आनन्द आता है। भूखे को भोजन और तृप्त को भोजन दो भोजन दोनों के सामने है परन्तु खुशी अधिक किसकी है। दवा की आवश्यकता रोगी को ही होती है। स्वस्थ मनुष्य को देना उसको दुखी करना है। इसी प्रकार कर्तव्य पालन में गहनता है।

कर्तव्य पालन में जो जितना दक्ष है और सचेत है उतना ही वह अपने पथपर अग्रसर है उसकी महिमा महान है उसका यश सर्वत्र व्यापी है उसका देव-चरित्र है उसके चरण चिन्हों से अन्य लोगों को दिशा सूझती है। वेही जाति समाज के अग्रगामी होते हैं असम्भव को सम्भव कर दिखाते हैं अपने जीवन में विजय पताका फहराते हैं। यदि किसी भी जाति का हरव्यक्ति अपने २ कर्तव्य को समझने और उसपर आचरण करने लगजाय और जीवन का एक उत्तम अंग समझले तो चाहे वह जाति कैसी ही गिरी हुई दशा में क्यों न हो उसके उठने में देर नहीं लगती।

कर्तव्य का पथ बड़ा पथरीला है उस पथ पर चलने वालों को धैर्य, अदम्य साहस, प्रेम, असीम आत्मसम्मान और आत्म शासन की आवश्यकता है। धन्य हैं वे जिन्होंने अपने आपको इस पथका पथिक बनाया है। उनके नाम स्मरण से ही हम अपने आपको कृतार्थ मानते हैं उनके जीवन की महिमा से हमारी जाति हमारा वंश हमारा देश उज्वल है। धन्य हैं जो इस पथ के अब पथिक हैं। "कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहो, होगी सफलता क्यों नहीं"।

जनक विदेह का जीवन चरित्र

[ले०-भक्तरत्न श्री मथुराप्रसादजी 'मथुरेश']

गतांक से आगे

बाल कुमार बोला कि महाराज पिताजी कर्म बंध निर्मुक्ति उपाय उपनिषदों में ये ही वर्णन हुआ है कि अहंभाव को त्याग कर फल की इच्छा रक्खे बिना कर्म किये जावें-

मेरी माता ने पतिव्रत धर्म पालन के प्रताप से एक बड़े भारी नगर सेठकी सेठानी बनने का अहोभाग्य पाया, अब मैं कुछ पतिव्रत धर्म की महिमा सुनाता हूं, सो सुनियेः-

एक कौशिक नामी ब्राह्मण बड़े तपस्वी एक दिन एक वृक्ष के नीचे भजन कर रहे थे, अचानक एक चिड़िया ने जो उस वृक्ष पर बैठी थी बीट करदी बीट इनके मस्तक पर पड़ी और उसके छोटे मुख में चले गये इस पर इस तपस्वी ने क्रोध भरी दृष्टि से उस चिड़िया को देखा तो वो भस्म हो के वृक्ष से नीचे आपड़ी। ब्राह्मण को अपने तपोबलका बड़ा भारी घमंड होगया। वह नगर में एक गृहस्थ के दर्वाजे पर भिक्षा के अर्थ गया और नारायण उच्चारण किया। स्त्री ने उत्तर में कहा महाराज ठैरिये लाती हूं। उसी समय उसके पति ने भोजन त्वरा से मांगा। स्त्री पतिव्रता थी उसने पति की आज्ञा पालन करना मुख्य समझा और भिक्षा लेकर देर से पहुंची, तपस्वी ब्राह्मण क्रोधाविष्ट होकर बोले। अरी इतनी देर से आई हमें नहीं जानती। स्त्री बोली महाराज मैं आपको खूब जानती हूं। आपको तपोबल का घमंड है, परन्तु मैं वो चिड़िया नहीं हूं जो आपकी कोप दृष्टि से भस्म होकर वृक्ष से नीचे आपड़ी थी। यह बात सुनकर तो ब्राह्मण के होश उड़गये। और शान्त होकर बोले माता उस चिड़िया का वृत्त तुझे कैसे ज्ञात हुवा उस समय वहां कोई न था, न मैंने यह भेद किसी को दिया। स्त्री ने कहा मैं पतिव्रता हूं और इस धर्म के पालन से सारी सिद्धियां अनायास प्राप्त हो जाती हैं। महात्मा क्षमा मांग चलदिये।

फिर बालकुमार राजा जनक से कहने लगा पिताजी ऋणानुबन्ध ही जन्म लेने का कारण है इस पर दृष्टान्त सुनिये।

दृष्टान्त

एक नगर में सत् चरित्र एक ब्राह्मण रहता था जिसका नाम शशिशेखर था। उसका प्रण यह था कि किसी से कुछ मांगना नहीं उसका विश्वास था कि परमात्मा विश्वभर समस्त विश्व का भरण पोषण करता है। उत्पत्ति से पहले माता के स्तनों में दूध पैदा करदेता है। परन्तु कभी कभी उसे सन्देह होजाता है कि असंख्य चर सृष्टि (चेतनमान) को किस प्रकार रोजी पहुंचाता होगा। इसी कारण कष्ट भी पाता था। घरमें उसके स्त्री तो पतिव्रता

परन्तु जब घरमें अन्न का दान ना रहा बच्चे भूखे मरने लगे तब उसने अति विनय पूर्वक पति देवसे निवेदन किया कि प्राणनाथ अब कोई उद्यम किये बिना कैसे निर्वाह होगा। किसी धनवान से ही याचना करिये:-

ब्राह्मणेश्वर बोला, साध्वी तुझे ईश्वर पर भरोसा नहीं जो जीव मात्र का भरण पोषण कर्ता है। मैं तुझे एक दृष्टान्त सुनाता हूं:-

दृष्टान्त

काशी में एक निरंजन नामक ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण रहता था, उसके घरमें भी दारिद्र आजाने पर स्त्री ने इसी प्रकार पति से प्रार्थना की थी जैसी तू कर रही है, निरंजन ने उत्तर दिया कि भगवान् के श्रीमुख का वचन यह है-

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां येजनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अर्थ यह है कि अनन्यभाव से जो भक्त मेरा भजन स्मरण करते हैं उनका योग और क्षेम मैं पहुंचाता हूं। अर्थात् जो वस्तु न हो उसे देता और विद्यमान वस्तु की रक्षा करता हूं, मुझे एक वर्ष तो और भरोसा रखकर प्रभु का भजन करलेने दे, पीछे देखा जायगा, वो पतिव्रता चुप होरही और बड़े कष्ट से एक एक दिन काटकर तीन सौ उनसठ दिन बिताये। कुछ भी सुध प्रभु ने न ली। ऐसी कठिन परिक्षा में विरले ही उत्तीर्ण होते हैं।

भक्त और उसकी स्त्री तथा बच्चों को तीन लंघन होकर वो चतुर्थ लंघन का दिन था। ऐसी स्थिति में घबरा कर ब्राह्मण को घरसे निकलना पड़ा। और मनमें सोचने लगा कि गीता में "योग क्षेमं वहाम्यहं" यह वचन भगवान् का नहीं प्रतीत होता। कल इसपर हड़ताल अवश्य लगा-दूंगा, ऐसा विचार कर नगर के निकटवर्ती एक पर्वत की गुफा में जाके चादर तान कर सोरहा। अब उधर का वृत्तान्त सुनिये-

दीनबन्धु भगवान् ने अपने भक्त की पूरी कठिन परीक्षा लेली वर्ष की समाप्ति जिस रात्रि में होने वाली थी आप विकल हो गये और बहुत त्वरा के साथ अपना वेष किसी सेठ के मुनीम जैसा बनाकर हजार हजार मोहरों की हजार थैली तैयार कर उन्हें छकड़ों में लदवा कर कई पार्षदों को भी नौकर के भेष में साथ लेकर निरंजन के मकान पर जा पहुंचे। आवाज लगाई तो भूखी प्यासी स्त्री ने दरवाजे के निकट आकर पूछा कौन है। आपने उत्तर दिया निरंजन हमारे सौदागर हैं उनका बहुत सा द्रव्य हमारे जिम्मे बाकी था सो ऋण चुकाने आया हूं। लो इस धनको संभाल लो धनका नाम सुनते ही मृतक शरीर में प्राण उलट आये इस प्रकार चैतन्न होकर दौड़ी गई और बाल बच्चों को जगाकर साथ ले आई। दर्वाजा खोल दिया। उधर मुहल्ले वालों ने धनका नाम सुनपाया अड़ोसी पड़ोसी सब दौड़ आये। छकड़ों से मोहरों की थैलियां हाथों हाथ उतार कर घरमें पहुंचाई। छकड़े खाली कराके मुनीम जी विदा होगये। अबतो नाते रिश्तेदार और पड़ौसी लोग जो कभी बात तक नहीं पूछते थे मशालें जला २ कर निरंजन की खोज में दौड़े। पर्वत खूंद डाला बड़ी देर के पीछे एक गुफा में निरंजन को चादर तान के सोते देखा। उधर भीड़ भाड़ से चौंक कर निरंजन जाग तो गया परन्तु जान बूझ कर गाढ़ निद्रासक्त बनगया।

वाह महारानी लक्ष्मी जी की महिमा, जो लोग दरिद्री निरंजन से कभी बात नहीं करते थे उससे बात चीत करने में अप्रतिष्ठा समझते थे

आज मीठी २ बातें बोलने लगे।

एक पड़ोसी बोला-भैया निरंजनलाल इतना धन तुमने सेठ के पास रख छोड़ा था फिरभी कंगाली से क्यों जीवन बिताया। जागो जागो भाई जल्दी चलो भाभी अकेली घबरा रही है। मोहरों की थैलियां तो छकड़ों से उतरवाके हम सब ठिकाने रखआये हैं। निरंजन जागता तो था ही सुनकर मन ही मन में सोचने लगा। कैसी मोहरें कौन सेठ क्या यह लोग मेरी हंसी उड़ा रहे हैं! झट ही आँखें मलता हुआ उठ बैठा परंतु बोला कुछ नहीं। दूसरा पड़ोसी कहने लगा। भैया हजार थैली जिनके रखआये हैं और मुनीम जी को विदा भी कर आये जल्दी चलो। तीसरा मुहल्लेदार बोला-पंडित जी तुम्हारे बड़े कंवर से हमारी बाई के संबंध करने की हमारे पिताजी की संमति चिरकाल से है, नाई ने तुमसे कहा भी होगा भाई अब दूसरी जगह की सगाई मंजूर न करलेना तुम्हें हमारी सौगन्द है।

इत्यादि अनेक प्रकार की खुशामद होने लगी।

अपूर्णम्

मैं और तू

[रचयिता श्री बलदेव प्रसाद मिश्र]

मैं हूं लघुतान एक मुरली मधुर तू है।
मैं हूं रज एक तू प्रसून सुखधाम है॥
मैं हूं चिनगारी तू प्रबल अग्नि को है तत्व।
मैं हूं एक घर तू नगर अभिराम है॥
मैं हूं एक बुन्द तेरो सिंधु तु हमारो बन्यो।
मैं हूं एक कर तू प्रभाकर ललाम है॥
हौं तो एक उपल पहाड़-पुंज तू है नाथ!
मैं हूं लघु संज्ञा तू सकल रूप नाम है॥

जीवात्मा

[ले०-श्री यमुना प्रसाद श्रीवास्तव]

जीवात्मा ईश्वर से भिन्न नहीं है वह तो ईश्वर ही का स्वरूप है।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखराशी॥

उसमें जो भेद भासता है वह अविद्या के कारण भासता है। अविद्या और माया एक है। जीवात्मा उसी के वश में है।

'मायावश्य जीव अभिमानी।
ईशवश्य माया गुणखानी॥
परवश जीव स्ववश भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥'

माया जड़ और ईश्वराधीन है जीवात्मा उसी के वशीभूत होकर संसार बन्धनों में फंसता है।

'सो माया वश भयऊ गुसांई।
बन्ध्यो कीर मर्कट की नांई॥
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परिगई।
यद्यपि मृषा छूटन कठिनई॥
तबते जीव भयऊ संसारी।
ग्रंथि न छूट न होई सुखारी॥
श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई।
छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥'

वह अपने ईश्वरत्व को भूल जाता है। उसे इसबात का ज्ञान नहीं रहता कि माया उसकी दासी है और वह माया का स्वामी है। यही उसकी अज्ञानता और उसके जीव कहलाने का कारण है।

'माया ईश न आपु कह,
जानि कहिय सो जीव।

इसी के कारण उसे बार बार जन्म लेना, मरना और चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है।

'आकर चार लाख चौरासी।
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी॥'

जीवात्मा का इस जन्म का जीव-भाव पिछले जन्म के शुभाशुभ कर्मों का फल है और उसका पिछले जन्म का जीव-भाव उससे पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्मों का फल था। इस प्रकार जीवात्मा का यह सिल सिलेवार बन्धन अनादि काल से चला आता है परन्तु इस घोर दुःख को देखकर भी न जाने जीवात्माओं को कैसे संतोष होता है।

'यावज्जननं तावन्मरणं तावज्जननी जठरे शयनम्।
इति संसारे स्फुटतरदोषः कथमिह मानव! तव संतोषः'

जबतक जन्म ग्रहण करना है, तबतक मरना और माता के पेट में सोना है संसार में यह दोष स्पष्ट दिखाई देता है। फिरभी, हे मनुष्य! न जाने तू क्यों इस संसार से संतुष्ट है। मनुष्य का यह शरीर मन और इन्द्रियों के शुभाशुभ कर्मों का फल है। जीवात्मा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। मन की वासनाओं के कारण से ही उसे जन्म लेना

और मरना पड़ता है।

'वासना यत्र यस्य स्यात्स तं स्वप्नेषु पश्यति।
स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासनातो वपुर्नृणाम्॥'

जिसकी जिसमें वासना रहती है वह उसे स्वप्न में दिखाई देता है। स्वप्न की तरह मृत्यु का भी हाल है। मृत्यु के समय मनमें जो वासना रहती है वही उसको मिलती है। जीवात्मा के निवास के दो स्थान हैं। एक 'लोक' और दूसरा परलोक। वर्तमान शरीर को 'लोक' और भावी शरीर को जो वासना शरीर भी कहलाता है 'परलोक' कहते हैं। दोनों लोकों के मध्य में एक तीसरा स्थान भी है उसे स्वप्न सृष्टि कहते हैं। इस स्थान से जीवात्मा दोनों लोकों की सैर करता और उनके संस्कार और प्रभावों पर गौर करता है। फिर कर्म धर्म के बन्धनों में फंसकर कभी इसलोक और कभी परलोक की गश्त करता है, कभी सुख सागर और कभी दुःख सागर में गोते लगाता है, कभी स्वर्ग और कभी नरक का द्वार खटखटाता है और लोटन कबूतर की तरह चक्कर लगाता हुआ हैरान रहता है। यह दौड़ धूप सब मनकी प्रेरणाओं के कारण करनी पड़ती है।

'फिरत सदा माया के प्रेरे।
काल कर्म स्वभाव गुण घेरे॥

मन भी माया का रूप है। वह जड़ है और जीवात्मा की सत्ता के आधीन है वह जीवात्मा का सारथी है। इन्द्रिय रूपी अश्वों की बागडोर उसी के हाथ में है, उसे मोड़कर शरीर-रूपी रथ को जिधर वह चाहता है, लेजाता है और नाना प्रकार की क्रीड़ायें करके जीवात्मा को सैकड़ों नाच नचाता है और अंत को संसारी बन्धन से बांध देता है। मनमें उसकी निजकी कोई शक्ति नहीं है। उसमें कोई शक्ति होती तो वह सुषुप्ति में अवश्य प्रकट होती। परन्तु वहां तो वह कुछ नहीं करता, निश्चल रहता है और अकेला आत्मा अपनी छटा दिखाता है। जीवात्मा ज्योति है। उसके प्रकाश में शरीर और इन्द्रियाँ उसी प्रकार काम करती हैं जिस प्रकार मनुष्य सूर्य चन्द्र और दीपक आदि के प्रकाश में अपना काम करते हैं। जिस प्रकार सूर्य चन्द्र दीपक आदि मनुष्य के काम से सम्बन्ध नहीं रखते उसी प्रकार आत्म-ज्योति भी शरीर और इन्द्रियों के काम से सम्बन्ध नहीं रखती। सदा निर्लेप रहती है। जीवात्मा जाग्रत और स्वप्नावस्था में कोई काम नहीं करता। दोनों अवस्थाओं में वह शरीर और इन्द्रियों के काम को देखा करता है। और साक्षीमात्र है। ज्ञानी लोग भी कुछ नहीं करते। वे लोग शरीर और इन्द्रियों के कामों को देखते रहते हैं स्वयं शरीर और इन्द्रियों के कामों के कर्त्ता नहीं होते। ज्ञानी लोग बन्धन और मोक्ष की भी परवाह नहीं करते। बन्धन और मोक्ष को तो वे मनका संकल्प और भ्रम समझकर सदा ब्रह्मानंद में मग्न रहते हैं कभी बिछुरने का नाम तक नहीं लेते। कहा भी है।

'सोऊं तो सपने मिलूं, जागूं तो मन मांहि।
आठ पहर चौंसठ घड़ी, बिछुरत कबहुं नांहि॥'

सूर्य, चंद्र और दीपक में जो प्रकाश दिखाई देता है वह हमारे नेत्रों का है, हमारे नेत्रों में जो प्रकाश दिखाई देता है। वह हमारे मनका है, हमारे मन में जो प्रकाश दिखाई देता है वह हमारे जीवात्मा का है। हमारे जीवात्मा के प्रकाश से ही सब प्रकाशवान है। वही इन सबों के प्रकाश का मूल स्रोत है। यदि वह न होता तो संपूर्ण जगत् में अंधेरा रहता जैसा कि मृत्यु के समय रहता है। आत्म-ज्योति का प्रकाश पहिले मन और उसके विचारों पर पड़ता है। ज्ञानी लोग इस मौके को

हाथ से जाने नहीं देते ! वे लोग नेत्र मूँद और ध्यान लगाकर आत्म-ज्योति का दर्शन मन और उसके विचारों पर उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार सर्व साधारण लोग, ग्रहण के समय, राहु का दर्शन सूर्य और चन्द्रमा पर करते हैं।

नेत्र मूँद जब ध्यान लगावें।
तब कहुं पार हकीकी पावें॥

जिस प्रकार सूर्य से किरणें निकलती हैं उसी प्रकार मनसे भी किरणें निकलती हैं। मन की इन किरणों पर जीवात्मा का प्रकाश उसी तरह पड़ता है जिसतरह की मनपर पड़ता है। मनकी इन किरणों को वृत्तियें कहते हैं। ये मनो वृत्तियें मनसे निकलकर मस्तिष्क में जाती हैं और मस्तिष्क से नाड़ी द्वारा शरीर के अन्य भागों तथा पंच छिद्रों में जहां ज्ञान के आइने लगे हैं प्रवेशकर उन स्थानों को प्रकाशित करती हैं। पंच छिद्रों में प्रकाश फैलते ही ज्ञानेन्द्रियों से विचारों की धाराऐं निकलती हैं जो पदार्थों से टकराकर स्वयं उनकी आकृति की होजाती हैं और उन वस्तुओं की आकृति का हमको ज्ञान कराती हैं इस प्रकार जीवात्मा मनके भीतर प्रकाश डालकर उसे प्रकाशित करता है और मन अपनी धारा से संसार और उसके पदार्थों को प्रकाशित कर हमको उनके होने का ज्ञान कराता है। अतः आत्म-ज्योति ही वास्तविक ज्योति है।

साधारण लोग सूर्य चन्द्र दीपक नेत्र आदि को भी ज्योति कहते हैं। यह उनका भ्रम है। सूर्य चन्द्र दीपक नेत्र आदि ज्योति नहीं हैं। ये जड़ हैं और इन्द्रियों के उभारने के साधन मात्र हैं तथा झरोखे के समान हैं।

'इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना।'

संपूर्ण इन्द्रियां मनके आधीन और उसी की अनुगामिनी हैं। मनही जीवात्माओं को बन्धन में डालता है वही उनको पापी-पुण्यात्मा, साधु-असाधु, बुरा भला जो कुछ चाहता है बना देता है। इसलिये मनको सुधारना चाहिये। कहा भी है:-

'मन ही को परबोधिये, मन ही को उपदेश।
जो मन राखे जतन कर शिष्य होय सब देश॥'

और उसकी वासनाओं का नाश करना चाहिये।

चाह चमारी चूहरी अति नीचन की नीच।
तू तो परम ब्रह्म है जो चाहन होवे बीच॥
चाहगई चिन्ता मिटी मनुआ बे परवाह।
जिन्हें कछु नहिं चाहिये ते शाहन पत शाह॥

जीवात्मा अज्ञान वश डरता है। वास्तव में उसे किसी का डर नहीं है। जब मन कीसी दूसरे की कल्पना करता है तभी उसे भय मालूम पड़ता है। उसके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं तो फिर उसे डर किसका? और भय किसका? असल में सब आफतों की जड़ मन है। वही उसको सैकड़ों नाच नचाता है। वरना न कहीं बन्धन है और न मोक्ष की आवश्यकता है। बन्धन और मोक्ष मनके संकल्प हैं। मनके शान्त होते ही वे आपसे आप शान्त होजाते हैं। सारा दार मदार मन पर है।

'जो रहीम मन हाथ है मनसा कहुं किन जाहि।
जल में छाया जो परी काया भीजत नाहिं॥

जिस प्रकार बालक अपनी परछाई से डरता है उसी प्रकार जीवात्मा भी अपने संकल्पों से डरता है। सारांश यह है कि ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म रूप है। जो इस तत्व को जानता है और जिसे जरा भी आत्म-प्रतिष्ठा का ख्याल है वही ज्ञानी है। जो ब्रह्म या आत्मा को नहीं जानता वह अज्ञानी और मूर्ख है।

चतुराई चूल्हे परो यम गहि शानहि खाय।

तुलसी प्रेम न रामपद, सब जरमूल नशाय ॥

महादेव जी पार्वती जी से कहते हैं:-

'ये नराधम लोकेऽस्मिं रामभक्ति पराङ्मुखाः ।
जपं तपं दयाशौचं शास्त्राणामवगाहनम् ॥
सर्वं वृथा विना येन, शृणुष्वं पार्वति प्रिये ! ॥

सुमिरत क्यों न निशंक ॥
जाके छिन संसर्ग ते ।
लगत लोकपति रंक ॥

राजा जनक जी ने भी श्री शुकदेव जी से कहा है:-

'अनन्तवस्तु मे वित्तं ।
यस्मे नास्ति हि किञ्चन ॥'

अर्थात् हमारा आत्मा रूपी धन अनन्त है उसका अन्त नहीं हो सकता ।

भक्ति के प्रिय पाठको ! इधर-उधर का भटकना छोड़ इसी एक भाव को ग्रहण कीजिये। कल्याण का केवल यही एक मार्ग है।

भावार्थ

हे प्रिये ! जो नराधम इसलोक में रामकी भक्ति नहीं करते उनके जप, तप, दया, शौच, पठन पाठन आदि सब वृथा हैं। भगवान् की भक्ति ही सार है। क्योंकि भगवान् की थोड़ी सी याद करने से बहुत सुख होता है किसी ने कहा भी है:-

ब्रह्म अखण्डानन्द पद ।

व्याज-स्तुति

(रचयिता साहित्यरत्न पं० बाबूलाल भार्गव बी. ए.)

छोरि छोरि हारे राम कंगन सिया जू को, पै-
छूटे नहिं गाँठ, मुख बहत पसीना है ।
काँपै हाथ, देखिकै रंगीली नारी व्यंग करै-
ऐही कर लाल ! गज-फंद तोरि लीना है ?
ऐही पाणि तोरी डारी चंड धनु रुद्र जी की ?
कहै सखि आन, सुनो मेरो छान बीना है ।
जानिके न तोरो, सीय-सुषमा पै वारी, तृन-
तोरो चाह्यो, आपै चाप टूटो भाग हीना है ॥

षट्-प्रमाण संग्रह

उपमान-प्रमाण ।

गतांक से आगे

[लेखक-श्री महात्मा राम आश्रम]

सत्यानन्द स्वरूपाय बोधैक सुखकारिणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥

'सादृश्य प्रमिति उपमिति' सादृश्य को विषय करने वाली 'प्रमा' उपमिति 'प्रमा' कही जाती है। जैसे नगर में देखी है गौ जिस पुरुष ने उसको यदि गवय के देखने की इच्छा होवै तब वह किसी वनवासी पुरुष से बूझे कि गवय पशु कैसा होता है। तब वह वनवासी पुरुष उसको उत्तर देवै कि गौ के सदृश गवय होता है। इस प्रकार का वचन सुनकर वह पुरुष किसी काल में दैव योग से वन में जाकर गवय को देखकर यह गवय गौ के सदृश है। इस प्रकार उसका उपमिति ज्ञान होता है तदनन्तर इस गवय के समान हमारी गौ है ऐसा ज्ञान होता है इसी ज्ञान को उपमिति 'प्रमा' कहते हैं। यहां गवय पशुनिष्ठ जो गौ के समानता ज्ञान है वह तो उपमिति प्रमा का करण रूप होने से उपमान 'प्रमाण' कहा जाता है। और अपनी गौ निष्ठ जो उस गवय के समानता का ज्ञान है वह उपमान प्रमाण का फल रूप उपमिति 'प्रमा' कही जाती है। यह उपमिति का लौकिक उदाहरण कहा अब वैदिक उदाहरण कहते हैं। जिस पुरुष ने आकाश की व्यापकता को तथा असंगता को निश्चय किया है वह ब्रह्म की व्यापकता को तथा असंगता को जानने की इच्छा वाला है ऐसा अधिकारी पुरुष ब्रह्मवेत्ता गुरु से बूझता है कि हे भगवान् ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? तब गुरुदेव शिष्य को अधिकारी जानकर कहते हैं कि ब्रह्म आकाश के समान 'व्यापक' है तथा 'असंग' है। इस वचन को सुन कर एकान्त देश में विचार करके ब्रह्मरूप आत्मा में व्यापकता तथा असंगता रूप से आकाश के सादृश्यता को अनुभव करता है अर्थात् आकाश के समान व्यापक तथा असंग मैं आत्मा ब्रह्म से अभिन्न हूं। इस प्रकार का अनुभव होता है।

यहां किसी की यह शंका है कि आत्मा व्यापक तथा असंग है इसमें कौन प्रमाण है। ऐसी शंका के प्राप्त हुए आत्मा की व्यापकता तथा असंगता को सिद्ध करने वाले श्रुति स्मृति आदि प्रमाण दिखलाते हैं। श्रुतिः

'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यम्'

आकाश के समान आत्मा सर्वत्र व्यापक है तथा नित्य है।

'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते' ॥

जैसे आकाश सर्वत्र स्थित हुआ भी अपने असंग स्वभाव से किसी पदार्थ में लिप्यमान नहीं होता है तैसे ही सर्व देहों में स्थित हुआ आत्मा

गुण दोषों से लिप्यमान नहीं होता है। यह गीता स्मृति आत्मा को आकाश के समान व्यापक तथा असंग बतलाती है। 'दृशिस्वरूपं गगनोपमंपरम्' इस वाक्य से आचार्यों ने भी आत्मा को आकश के समान 'व्यापक' कहा है। इस प्रकार आकाश की सदृशता करके आत्मा में उपमिति 'प्रमा' होती है। अथवा शुक्ति रजत स्वप्न पदार्थ आदिकों में जिसने मिथ्यापने को निश्चय किया है तथा आकाशादि पदार्थों के स्वरूप को जानना चाहता है वह पुरुष आचार्य से पूंछता है कि हे भगवन्? यह आकाशादि प्रपंच सत्य, है वा असत्य, है तब श्री गुरू कहते हैं कि यह सर्व प्रपंच शुक्ति रजतादिकों के समान 'मिथ्या' है। तथा

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानोऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥'

जो वस्तु आदि अन्त में नहीं होती है वह वस्तु वर्तमान् में भी नहीं के समान है। जैसे मृग तृष्णा का जल प्रतीति काल से पहले भी नहीं था तथा पीछे भी नहीं रहेगा। किन्तु वर्तमान् काल में ही प्रतीत होता है। वर्तमान् काल में भी प्रतीति मात्र के सिवा कुछ नहीं है। इसी प्रकार यह आकाशादि जाग्रत काल का प्रपंच सृष्टि के आदि अन्त में अभाव रूप होता है किन्तु वर्तमान् काल में ही अज्ञात पुरुषों के लिये प्रपंच दीर्घ काल पर्यन्त स्थायी रूप प्रतीत होता है तत्त्वज्ञों को सर्व प्रपंच स्वप्न के समान प्रतीति मात्र से अधिक कुछ नहीं है। 'आत्मैवेद सर्वमिति' यह दृष्टि गोचर समस्त प्रपंच आत्म स्वरूप ही है यह श्रुति विद्वान् के अनुभव को कथन करती है। 'अतोऽन्यदार्तम्' इस आत्मा से पृथक् जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सर्व आर्त कहिये तुच्छ है।

'माया मात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।

जितना यह द्वैत प्रपंच है सब माया मात्र है जो वस्तु देखने में सत्य सी दीखे और वैसे कुछ भी न हो वह माया मात्र कही जाती है। जैसे बाजीगर के तमासे प्रतीति मात्र होते हैं। तैसे यह प्रपंच भी शुक्ति रजतादिकों के समान असत् होता हुआ भी अज्ञानियों को सत्य सा प्रतीत होता है। इस प्रकार गुरु के वाक्य को सुन कर पश्चात् श्रुति स्मृति रूप शास्त्र के विचार से अधिकारी पुरुष को आकाशादि प्रपंच में शुक्ति में रजत, रज्जु, में सर्प मृग तृष्णा के जल आदि, असत् पदार्थों की सदृश्यता रूप उपमिति प्रमा उत्पन्न होती है।

इति उपमिति प्रमानिरूपणम्।

ईश्वर पर विश्वास करो

[ले०—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी आश्रम]

ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु एक परमोच्च उद्देश्य की साक्षी है। प्रकृति के विकार निर्विकार सत्ता का आभास करा रहे हैं। संसार का प्रत्येक कण बिन्दु एक महत्ता को स्वीकार कर रहा है। लघु से लघु और दीर्घ से दीर्घ जो कुछ नेत्रों का विषय है सब यही द्योतित कर रहा है कि इस

क्रियात्मक जगत् में कोई गहरा भेद है। नाना प्राणियों की आत्माएं यह प्रत्यक्ष अनुभव कर रही हैं कि ईश्वर इस प्रपंच का ईप्सित सर्वत्र परिपूर्ण है। पदार्थों का संयोग विभागात्मक क्रम यह साबित करता है कि ईश्वर है। अनन्त परम्परा से अविरल रूप से बहती हुई माया नदी अपनी तीव्र हिलोरों से यह प्रकट कर रही है कि अनन्त समुद्र विद्यमान है। आत्मसाक्षात्कार करके पवित्र अन्तःकरण वाले महान् पुरुष ईश्वर का विश्वास दिला रहे हैं। अतः यह निश्चित सिद्धान्त है कि सर्व का नियामक अनादि विभु सर्वशक्तिमान् परमात्मा विद्यमान् है। प्रत्यक्ष में जो कुछ देखते हैं उससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ईश्वर अवश्य है। अस्तु यदि ईश्वर विद्यमान है तो उस से हमारा क्या प्रयोजन? यह बहुधा मनुष्यों के विचार उठते हैं। परन्तु यदि गम्भीरता पूर्वक तत्त्वनिर्णय के लिये विचार किया जाय तो यह सहज ही समझा जा सकता है कि ईश्वर चराचर विश्व का उत्पादक, संस्थापक और संहारक निर्विवाद सिद्ध तत्त्व है। जो उत्पत्ति, स्थित्ति और संहार करने की शक्ति रखता है उसका जीव सृष्टि से किसी प्रकार का सम्बन्ध है या नहीं? यह भी विचारने का विषय है। अस्तुः-

सर्व प्रथम जीव के उद्देश्य को समझना चाहिये। किसी बात के निर्णय करने में प्रथम प्रमाण की आवश्यकता होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द ये तीन प्रमाण हैं। इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न अवर्णनीय, एक रस, निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष में ईश्वर की सत्ता प्रत्येक पदार्थ से ज्ञात होती है। अनुमान से जिस प्रकार कुलाल घटादि का कर्त्ता है इसी प्रकार क्षिति, अंकुरादि का भी, कोई कर्ता है और वह ईश्वर है। शब्द से तो ईश्वर "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि अनेक वाक्यों से सिद्ध ही है। जीव का उद्देश्य ईश्वर को प्राप्त करना है क्योंकि अबोध अवस्था से ही बालक सुखकी इच्छा करता है। जिन पदार्थों में सुख मिलता है उनको चाहता है और जिन में दुःख होता है उनको त्यागता है। किन्तु पदार्थों में सुख अल्प काल के लिये अवभासित है। वास्तव में सुख आत्मा की विभूति है। उपरति में संसार की कोई भी वस्तु सुखद नहीं प्रतीत होती इस से प्रत्यक्ष है कि जीव किसी अनन्त सुखका इच्छुक है। 'रसो हि स रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' वह ईश्वर रसमय है उसको प्राप्त करके ही जीव सुखी होता है। सांख्य में तीनों दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को जीव का परम उद्देश्य कहा है। सम्पूर्ण शास्त्र यही कह रहे हैं कि जीव अपने उद्देश्य को पूर्ण करने पर ही कृतकृत्य हो सकता है।

जब ईश्वर और जीवका घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है तो फिर भी जीव अभिमानादि वश होकर अपने को सर्व सर्वा मानकर दुःखी सुखी होता है यही भूल है। जब दुःख की मात्रा अधिक होती है। तब जीव ईश्वर की ओर श्रद्धा पूर्वक करता है। हां तभी इस को आश्वासन मिल जाता है। अन्यथा कोई और अधार भी इस अवस्था में नहीं रहता है। परन्तु बहुत दिन की भूल से जीव ईश्वर से इतना पराङ्मुख हो रहा है कि ईश्वर की सत्ता में भी आक्षेप करने लगता है। परन्तु यह निश्चित है कि जब तक ईश्वर पर विश्वास न किया जायगा तब तक ईश्वर की प्रत्यक्षता में निरन्तर विघ्न व्याप्त रहेंगे। विश्वास के उत्पन्न करने के लिये सब से पहली बात है लगन। जब सच्ची लगन होगी तो असम्भव भी सम्भव हो जायगा। लगन के बिना सम्भव भी असम्भव ही रहता है। जो मनुष्य

ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हैं और फिर कहते हैं कि ईश्वर कानून के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता, असंभव को सम्भव नहीं कर सकता वे ईश्वर की महिमा को क्षीण करते हैं। उनको विश्वास का भरोसा कुछ भी नहीं है।

ध्रुव को माता के वचनों पर विश्वास था तभी तो पांच वर्ष की आयु में ही राज प्रासादों को तृणवत् त्याग कर गहन वन में निःशंक भाव से ईश्वर की गोद में बैठने को चल दिया था। तो क्या निराश लौटा? नहीं उस अनन्त अपार परमेश्वर की गोद में निश्चय ही बैठ गया। प्रह्लाद भक्त विश्वास का खजाना था जो सारे संकटों में अटूट विश्वास के बल पर अपने को स्वाहा कर रहा था। तभी तो भक्त शिरोमणि कहलाता है। बस जिसने जो कुछ पाया है विश्वास से ही पाया है। वर्षा ऋतु में यदि वृष्टि न हो तो क्या पपीहा तालाब या कूप का पानी पी लेगा, कभी नहीं। उसको विश्वास है और विश्वास से भी बुरी लगन है वर्षा ही का पानी चोंच में ओट कर पीता है। तुरन्त उत्पन्न हुवा बालक माता के स्तनों से क्यों चिपट जाता है। क्या उसे कुछ ज्ञान है। नहीं केवल यह विश्वास है कि जिसने मुझे उत्पन्न किया उसने मेरा भोग्य अवश्य पहले बनाया है। संसार में जितने भी जीव हैं सबको अपने लिये सुख का विश्वास है यदि दुःख भी मिलता है तो उसकी भी तह में संसार सुख का विश्वास किये हुये है। तभी तो जीवन को धारण कर रक्खा है अन्यथा कौन दुःखी रहना चाहता है। महापुरुषों का कथन है कि किसी पदार्थ का संग्रह न करो अन्यथा विश्वास की मात्रा घट जायगी। ईश्वर पर विश्वास रक्खो वह जो चाहोगे तुरन्त देगा। वन के पक्षी प्रति दिन भोजन करके सन्तुष्ट रहते हैं। उनको संग्रह करने का विचार ही नहीं उठता, क्योंकि विश्वास है। मनुष्य को विश्वास नहीं जो दिनरात बैलकी भांति कमाता है और फिरभी भूखा का भूखा रहता है। जो महान् हैं वे ऊंचा उद्देश्य रखते हैं। उनको तृष्णा नहीं होती। "सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः" सन्तोष से अनुत्तम-जिससे उत्तम कोई नहीं उस सुख का लाभ प्राप्त होता है। सन्तोष तभी होता है जबकि विश्वास हो। 'विश्वासो फलदायकः" विश्वास सब फल देता है। जितना अविश्वास है उतना ही दुःख और बन्धन है। विश्वास से लज्जा, शंका, भय, सब नष्ट होजाते हैं।

लोग मन्दिर में जाते हैं पूजा करते हैं। तीर्थों में स्नान करते हैं सत्संग करते हैं परन्तु चित्त को शान्ति नहीं मिलती कारण विश्वास नहीं हां यदि लगन भी हो तो विश्वास तुरन्त उत्पन्न हो जाय परन्तु बिना लगन क्या होता है। बैठे हुये के मुख में ग्रास कभी स्वयं नहीं प्रविष्ट होता। ईश्वर जो कि इन्द्रियों का विषय ही नहीं उसको बिना विश्वास के इन्द्रियों से साक्षात्कार करने की इच्छा करना कितनी भूल है। लोग कहते हैं कि ईश्वर सब जगह है तो दीखता क्यों नहीं। महापुरुष कहते:-

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये।
भावे हि विद्यते देव तस्माद्भावो हि कारणम्॥

ईश्वर न काठ में है न पाषाण (पत्थर) में न मिट्टी की मूर्ती में है, किन्तु भाव (विश्वास) में है इसलिये भाव ही कारण है। श्री मद्भागवत् में लिखा है कि जिस मनुष्य की पाषाण में पूजा बुद्धि है वह मनुष्यों में पशु है। है भी ऐसा ही जब ईश्वर सर्व व्यापक है फिर उसको एकदेशी मानना नितान्त भूल है। हां महापुरुषों का विश्वास है कि ईश्वर सर्वत्र परिपूर्ण है। यह विश्वास ही उनकी

महत्ता का कारण है। यदि हम यह विश्वास करलें कि ईश्वर सर्वत्र है और सबकी रक्षा करने वाला है तो हमें किसी प्रकार का भी क्लेश दुःख नहीं रहे बिना विश्वास के ईश्वर के लिये किया हुवा कोई भी (भजन, ध्यान, तप, त्याग आदि) कर्म फल-दायक नहीं होता। यदि विश्वास पूर्वक नियम से एक भी ईश्वर का नाम जपले तो वह भी परम सुखदायक है।

अतः प्रत्येक मनुष्य को दृढ़ विश्वासी बनना चाहिये। ईश्वर पर विश्वास करने से सम्पूर्ण कर्म ईश्वर को स्वयं करने पड़ते हैं। सच्ची भक्ति विश्वास से ही होती है। बिना विश्वास के किया कराया सब निष्फल है। भगवान् के परमभक्त कबीर जी भगवान् के लिये कहते हैं:-

ना मन्दिर में ना मस्जिद में ना काशी कैलास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो 'मैं तो हूं विश्वास में'॥

कामना

[ले०-श्री परमेश्वरदयाल "प्रेम पथिक"]

१

कुटिल कलि के रंग-मंच पै थिरक रही तेरी माया।
काम, क्रोध, मद, लोभ मोह ने, किसे श्याम ना भरमाया?

२

नटवर! तेरा नाम जगत् में है विख्यात "पतित-पावन"।
इसीलिए तव पद-पंकज में ले आया पापी नीवन॥

३

जीवन-दीप बुझे जब मेरा मुख फेरे सारा संसार।
दीनानाथ! दया कर दुखिया का कर देना बेड़ा पार॥

४

अमरपुरी की नहीं लालसा ना धन धाम चहूं लेना।
जिस मग से तव भक्त पधारें 'पथ-रज' नाथ बना देना॥

योग-साधन

[ले०-श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती]

६५१. यह जगत् मेरे से उत्पन्न हुआ, मुझ में ही स्थित है और मुझ में ही समागया है। मैं कालातीत हूं। शिवोहम्, शिवोहम्, शिवोहम्॥

६५२. जिसने ध्यान द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करलिया है और जिसने आत्मा में प्रवेश कर लिया है, उसके आनन्द की क्या सीमा है।

६५३. मैं अणु से अणु हूं और विभु हूं। मैं समस्त विभूतियों से परिपूर्ण संसार हूं। मैं प्राचीन हूं, आत्मा हूं, स्वामी हूं, स्वर्ण रूप हूं, मैं साक्षात् आनन्द हूं।

६५४. मैं हाथ और पांव से रहित हूं परन्तु अनन्त शक्तिमान हूं।

६५५. मैं बिन कानों के सुनता हूं और बिना आखों के देखता हूं। मैं ही ज्ञानी हूं और मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी ज्ञानी नहीं है।

६५६. ज्ञानी के लिए न तो मृत्यु है और न ही बीमारी न वृद्धावस्था है। ज्ञानी की दृष्टि सबसे परे रहती है वह सर्वत्र व्यापक और समाया हुआ होता है।

६५७ सन्तान की इच्छा से ही सम्पत्ति की इच्छा होती है और सम्पत्ति की इच्छा ही संसार बन्धन है। उस मुनि को क्या इच्छा हो सकती है जो समस्त विश्व को अपना आत्मा समझता है।

६५८. जिसने ब्रह्मानन्द का पान कर लिया है वह वर्तमान व भविष्य सब कालों में अभय रहता है। उसे डरना क्यों चाहिए? डर है किसका जब सब कुछ अपना आत्मा ही है। डरतो अन्य से होता है।

६५९. आत्मा अपना आपा ही है, इसलिये हमको यह भी ध्यान नहीं आना चाहिए कि आत्मा में किसी प्रकार का विरोध स्थित है। क्योंकि आत्मज्ञान किसी मनुष्य की अवस्था में भी विजातीय ज्ञान नहीं है। यह तो स्वयं स्थित है। यह किसी बाह्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता और न ही किन्ही विशेष साधनों की आवश्यकता है। केवल बाह्य पदार्थों से चित्त को रोककर अपने आपको पहचानता है। जो अपनी स्वयं सत्ता है उसका कभी तीन काल में भी खण्डन नहीं हो सकता। आत्मा के जो अपने आप गुण हैं उनका खण्डन भी कौन कर सकता है वह तो इसमें आपही स्थित है।

६६०. आत्मा को जो सम्बन्ध अपने ज्ञान से है वह नीचे लिखे वाक्यों से स्पष्ट होगा।

६६१. मैं वर्तमान काल को जानता हूं, जो कि वर्तमान है। मैं निकट भूत और दूरस्थ भूत को जानता हूं। मैं भविष्य में भी निकट भविष्य और दूरस्थ भविष्य को जान लूंगा। ज्ञान का विषय भूत, भविष्यत् और वर्तमान की स्थिति के अनुसार बदलता रहता है परन्तु जानने वाला कभी नहीं

बदलता कारण उसका स्वभाव नित्य है। आत्मा का गुण नित्य है इसलिये यह नाश को प्राप्त नहीं हो सकता। शरीर जब जलकर भस्मीभूत होजाता है तब भी इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आशंका नहीं हो सकती,

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदः।
आगमापायिनो नित्या स्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

१६२. हे कुन्तीपुत्र! शरदी, गरमी और सुख व दुःख स्पर्श मात्रा हैं और आने जाने वाले हैं। इनकी तितिक्षा करनी चाहिए।

१६३. तितिक्षा और सहन शीलता बिना ज्ञान नहीं हो सकता। यह ज्ञान प्राप्ति के आधार हैं। कुछ सन्त तितिक्षा को ही आदर्श बनालेते हैं। वे मृत्यु पर्यन्त शरद ऋतु में शीतल जल में एक पांव से खड़े रहते हैं और गरमी में धूप में एक पांव से खड़े रहते हैं। केवल तितिक्षा द्वारा ही मनुष्य जीवन का उद्देश सफल नहीं हो सकता।

भगवन्नाम जप ही भक्ति है

[ले०—प्रमुदत्त ब्रह्मचारी प्रयाग]

शास्त्रों में स्थान स्थान पर ज़ोर देकर यह बताया गया है कि नाम और नामी एक ही हैं। 'अभि व्यक्तात् नामि नामतः' जो कोदंडधारी नीलाम्बुज श्रीराम हैं, वही उनका नाम है। नाम न हो तो उन कौशिल्यानंदन श्री रामको कौन जाने इसीलिये श्री तुलसीदास जी श्री रामचन्द्र जी से भी बढ़कर उनके नामको बताते हैं।

सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेद बिदित गुनगाथ ॥
राम सुकंठ बिभीषन दोऊ, राखे सरन जान सब कोऊ।
नाम अनेक गरीब निवाजे, लोक बेद बर बिरद बिराजे ॥
राम भालु कपि कटक बटोरा,
सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा ॥
नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं,
करहु बिचार सुजन मन माहीं ॥

इतना सब कहकर अन्त में कहते हैं:—

कहहु कहां लगि नाम बड़ाई,
राम न सकहिं नाम गुन गाई ॥

यथार्थ बात यही है। नामके बिना नामी का ज्ञान ही नहीं होता। दूसरे को समझाना हो तो नाम से ही समझाया जा सकता है। अतः भक्ति मार्ग में सर्वश्रेष्ठ एक ही साधन है। श्री राम नाम का जाप और साध्य भी एक ही है। निरंतर राम नाम का जाप होते रहना। दूसरे शब्दों में भक्ति मार्ग में साध्य साधन दो नहीं है। नाम ही साधन है और नाम ही साध्य है। वेद पुराण नाम की महिमा में साक्षी हैं। कलियुग में तो भगवन्नाम के सिवाय दूसरा कोई सरल सुलभ साधन ही नहीं।

कलियुग केवल नाम अधारा, सुमिरि २ नर होइहिं पारा।

कलि में और साधन बन ही नहीं सकते। समय बड़ा भयानक है। विधर्मियों का शासन है।

वे धर्म से उदासीन हैं। दम्भ कपट झूठ और पापका बोल बाला है। पवित्र स्थान नहीं। शुद्ध पदार्थ नहीं लोगों की धर्म में प्रवृत्ति नहीं। वेद पढ़ने योग्य कलियुगी जीवों की बुद्धि नहीं। शुद्धता नहीं। पवित्रता नहीं। तितिक्षा सहने की शक्ति नहीं इन सब साधनों से हीन प्राणियों के लिये एकही उपाय है। कि शुचि में अशुचि में चलते फिरते उठते बैठते। यहां तक मल मूत्र त्यागते समय में भी वे निर्भय होकर रामनाम जप कर सकते हैं और उसी से भव पार भी कर सकते हैं।

इतना सब होते हुए भी हम राम नाम जप नहीं कर सकते। तभी तो आश्चर्य के साथ यमराज जी ने कहा है। "देखो कितने आश्चर्य की बात है। दो अक्षरों का छोटा सा राम नाम है, जिह्वा अपने घर की है। किसी से लेने नहीं जाना है, नाम जपमें कोई विधि निषेध भी नहीं। फिरभी लोग नरकों में आकर यातनायें सहते हैं इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या होगा।"

सभी काम दृढ़ता से होते हैं और दृढ़ता विना प्रतिज्ञा के होती नहीं इसीलिये सभी मंत्रों के सभी साधनों के अनुष्ठान बताये गये हैं। अनुष्ठान में मन बंध जाता है। वह समझता है कि जब तक अनुष्ठान पूरा न होगा तब तक तो इस कार्य को करना ही होगा। इसीलिये जपकी संख्या रखने को कहा गया है विना संख्या का जप निष्फल बताया गया है। जिस कामके लिये जपकी संख्या या समय की संख्या बांधकर कुछ विशेष विधि के साथ कृत्य किया जाता है उसे अनुष्ठान कहते हैं। गोस्वामी तुलसी दास जी ने राम नाम का भी एक बहुत सुन्दर अनुष्ठान बताया है। वे कहते हैं—

पय अहार फल खाइ जपु, राम नाम षट्मास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब, करतल तुलसीदास॥

इसमें दो तो विधि हैं, फलाहार खाकर रहना और ६ महीने तक निरंतर रामनाम जपना। ऐसा जो करते हैं उन्हें संम्पूर्ण सुन्दर मंगलमय सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। राम नाम के जपसे असंभव ही क्या है। इस अनुष्ठान से अवश्य ही श्री राम नाम में प्रीति हो जायगी और रामनाम में प्रीति हो जाना सम्पूर्ण मंगलों का भी मंगल है। इससे बढ़कर कोई मंगल ही नहीं वह तो "मंगलं मंगलानाम्" है।

किन्तु ६ महीने तक घर में फलाहार खाकर मौन रहकर जप करना कठिन है। घोर एकान्त में एकतो फलाहार आदि के साधन नहीं फिर आज कल एकान्त में किसी महान् त्यागी का ही चित्त लग सकता है। हम जैसे इन्द्रियों के गुलामों का चित्त तो एकान्त में और भी अधिक उद्विग्न हो जाता है। भांति २ के विचार उठते हैं। विचार न उठें तो निद्रा तन्द्रा आलस्य ही सताता है। अतः एकान्त में भी इस अनुष्ठान का होना असम्भव सा ही है।

हाँ कुछ सच्चे साधक, यथार्थ में भगवान को चाहने वाले और उत्साही किसी एकान्त पुण्य क्षेत्र में मिलकर इस अनुष्ठान को करें तो इसका पूर्ण होना संभव ही है। वहां एक दूसरे की शक्ति से सबका काम चलेगा। अधिक शक्ति वाले साधक अपने कम शक्ति वाले साथियों को उत्साह दिलाकर साथ लगाये रहते हैं। कम शक्ति वाले साधक देखा देखी ही एक दूसरे के लिहाज से निद्रा, आलस्य और प्रमाद में प्रवृत्त न होंगे। इस प्रकार 'परस्परं भावयन्तः' वाले सिद्धान्त के अनुसार मिलकर संघशक्ति से यह अनुष्ठान सुचारु रीति से हो सकता है। फिर बहुत से मिलकर जहां जैसा काम करते हैं वहां का वायु मंडल भी वैसा ही

बन जाता है, अणु परमाणु में वे भाव समाते हैं। इसीलिये तो सबकाम मिलकर संघशक्ति के साथ शीघ्र ही सफल होते हैं।

कुछ प्रेमी बन्धुओं की प्रेरणा से हमने यह सोचा है, कि ऐसे, सच्चे, उत्साही और लगन वाले १२।१४ साधक मिल जायं जो ६ महीने तक मौनी फलाहारी रहकर सोने विश्राम और भोजन के समय को छोड़कर निरंतर भगवन्नाम जप अथवा कीर्तन करते रहें तो इसी मकर संक्रान्ति पर १४ जनवरी, से तीर्थराज प्रयाग में यह अनुष्ठान किया जाय। निर्जन स्थान में ठीक गंगा जी के तट पर त्रिवेणी के समीप स्थान मिल गया है। खर्च का भी प्रबंध होगया है। अब साधकों की ही जरूरत है। इस धर्म प्रधान देश में हमें आशा तो है कि ऐसे १२, १४ साधक मिल ही जायेंगे। जो भाई इसमें सम्मिलित होना चाहें वे अपना पूरा हाल, आयु, जाति, स्थान, नाम में कबसे अनुराग हुआ आदि बातें लिख कर शीघ्र से शीघ्र मुझसे पत्र व्यवहार करें। या कोई भाई ऐसे साधकों को जानते हों तो उनका पता हमें बतायें। यदि यह अनुष्ठान सफल होगया तो करने वाले साधकों का और प्रयत्न करने वाले बन्धुओं का सभी का लाभ है।

श्री सत्यनारायण पूजन

[ले०—गुरुराम विश्वकर्मा "भक्त" "विशारद"

'बाबू साहाब! कल संध्या समय मेरे द्वार पर पधारने की कृपा कीजिएगा। श्री सत्यनारायण जी की कथा है।'

'पंडित जी! यों तो मैं आपका सेवक ही हूं किन्तु इन ढोंगों में मेरा विश्वास नहीं है। भला आप लोग श्री सत्यनारायण जी की कथा में कौनसी कथा कहते हैं?'

'वही कथा जो सनातन से चली आ रही है।'

'मैं ने भी तो कथा अनेकों बार सुनी है मगर कोई कथा वथा नहीं आन पड़ती। सब जगह यही है कि अमुक व्यक्ति ने कथा नहीं सुनी और आपत्ति में पड़ा। तनिक निरादर की और सर्व नाश हुआ लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि वह कौनसी कथा है जिसे लोग सुनते और सुनाते हैं। ये सब बातें जो श्री सत्यनारायण की कथा में लिखी हैं वे तो भूमिका मात्र हैं। फिर सनातन से कौनसी कथा होती आ रही है?'

'हां! आपका कहना ठीक है जिसे आप भूमिका समझ रहे हैं वह वास्तव में माहात्म्य है। मेरे कहने में गलती थी। सत्यनारायण जी की कथा नहीं पूजन। पूजन में तो आपको कोई शंका नहीं है! श्री सत्य नारायण भगवान् को आप मानते हैं या नहीं? बस, उन्हीं की पूजा हमलोग

सनातन से कर रहे हैं। जो उनकी निन्दा करता है तथा उन पर अविश्वास रखता है उस पर उनकी दृष्टि त्रिकोण अवश्य होती है। उसी प्रकार ऐसे पिताका पुत्र पर। इसका अभिप्राय यह न समझ लीजिएगा कि परमात्मा किसी से बदला लेता है नहीं, वह अपने दोषों को दूर करने के लिए चैतन्य कराता है। उसकी दृष्टि में बुरे भले एकसे ही हैं सबों को अपनी प्रदत्त वस्तुओं में समाधिकार दिया है किन्तु स्वयं लोग अपने कर्त्तव्य का परिणाम भोगते हैं।'

'खैर इसे मान लिया कि आप लोग कथा नहीं कहते पूजन करते हैं। मगर यह तो समझाइए, उस माहत्म्मा ने लिखा है कि दंडी ने कहा इस जहाज में क्या है? वणिकपुत्र ने उत्तर दिया। केवल घास पत्ते हैं बस जहाज के सभी हीरे मोती घास पात होगए। यह कैसी बे सिर पैर की बात है। मैं समझ नहीं सकता हूं कि लोग ऐसी असत्य कल्पनाओं पर क्यों कर विश्वास करलेते हैं।'

'इसके बारे में तो मैं कुछ नहीं कह सकता। शायद ये कथाएं लोगों को विश्वास करने की दृढ़ता बढ़ाने के लिए घड़ी है, मैं तो इस बात का कायल हूं कि ईश्वर अवश्य हैं और उनकी पूजा करनी चाहिए। चाहे किसी प्रकार से की जाय।'

'ठीक है यह तो मैं भी कहता हूं कि किसी प्रकार से की जाय। फिर यह ढोंग करने की क्या जरूरत। आप या मैं स्वयं ईश्वर को याद कर सकता हूं फिजूल का पाखंड करने से क्या लाभ।'

'यही तो बात है कि आप सनातन धर्म की बारीकियां नहीं समझ सकते। जनाब, इस धर्म में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो एक मिसबहाने से न होती हो। कोई अकेले लाभ नहीं उठाना चाहते। यदि खायं तो दस के साथ, भगवान की पूजा करें तो सौ के साथ व व्रत रहों तो हजारों के साथ कहने का यह अभिप्राय कि ऐसी बारीकियां किसी भी धर्म में नहीं हैं। यहां राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक गुत्थियां मिस के साथ इस तरह सुलझाई गई हैं जिनका कहना असंभव सा है। आप सनातन धर्म की सभी पुस्तकें मनन के साथ पढ़ें और उनके अन्तिम परिणामों पर विचार करें तो आप समझ सकते हैं कि मैं क्या कह रहा हूं।'

'अपनी चीज चाहे बुरी हो या भली सबको अच्छी लगती है। जो बात आप अपने कर्म धर्म के लिए कह सकते हैं वही अन्य भी, इससे तो कोई बहस नहीं मगर जितनी ढोंग कल्पनाएं सनातन धर्म में हैं किसी में नहीं। मैं ने बहुत कुछ अध्ययन किया मगर ऐसा जमीन और आसमान का कुलावा मिलाने वाला कोई धर्म मेरी नज़रों से नहीं गुजरा।'

'यह तो अपनी अपनी धारणा और अपने विश्वास की इतनी महत्ता है कि पत्थर में परमेश्वर माने जाते हैं और मानने वालों को उसमें मिलते है।'

'क्या खूब!'

'हां हां जो मैं कहता हूं, सब ठीक है। आप लोग तो अंगरेजी पढ़कर पागल से हो गए हैं। पिता को पिता कहने में शरमाते हैं फिर आपसे धर्म का क्या संबन्ध अच्छा तो मैं चलता हूं। आप आएंगे या नहीं।'

'वैसे तो कहिए सवेरे ही उठ जाऊं मगर उस ढोंग पर आना असंभव है। और तो कोई बात नहीं है।

'नहीं, और तो कोई बात नहीं है।'

'तो देखा जायगा।'

'खैर जैसी आपकी मरजी हो। आप आएं

या न आएं लेकिन श्री सत्यनारायण भगवान् को अवहेलना की दृष्टि से न देखिएगा नहीं तो नतीजा अच्छा न होगा।'

'यह तो अपने मन पर है।'

'गर्वोक्ति अच्छी बात नहीं होती यह तो आप मानते हैं।'

'सत्य सत्य ही है और मिथ्या मिथ्या ही।'

'आपसे कौन बहस करे। अच्छा मुझे आज्ञा दीजिए।'

(२)

काशी के दारागंज मुहल्ले में बाबू वीरेन्द्र कुमार का नाम कौन नहीं जानता है? आप पक्के आर्य समाजी हैं यद्यपि आप आर्यसभा के सदस्य नहीं है और न उसके समासदों से ही कोई संबंध रखते हैं मगर उनके विचार आर्यों जैसे ही हैं। उनकी तो कई बार इच्छा थी कि आर्य समा के सदस्य हो जायं मगर उनकी धर्मपत्नी उनके बिलकुल प्रतिकूल थी। जैसे हिन्दुओं के प्रतिकूल मुसलमान। यही कारण था कि बाबू साहब अपना नाम न देना चाहते थे कि कदाचित् कोई कह देता कि दिया तले अंधेरा घर में सब पाखंड होता है और आप पक्के आर्य बनते हैं। घर में श्री शंकर जी की प्रतिमा एक छोटे से मन्दिर में प्रस्थापित है उसीको उनकी धर्मपत्नी विधिवत पूजती हैं। प्रत्येक पूर्णिमा को उनके यहां श्री शंकर जी का शृंगार होता है। उसमें मुहल्ले के सभी लोग शामिल होते हैं। बेचारे वीरेन्द्रकुमार भी अन्धे और गूंगे की तरह सब तमाशा देखा करते हैं।

पंडित बाल कृष्ण पांडेय उनके पुरोहित हैं। आज उनके यहां श्री सत्यनारायण जी की कथा है यह जानकर धर्मपत्नी ने कहा—सुनते हैं, आज पंडित जी के घर जाना है।

धीरेन्द्र—मैं तो नहीं जाऊंगा।

धर्मपत्नि—क्यों नहीं जायंगे!

धी०—मेरी खुशी।

ध०—आपकी खुशी कैसी! एक हिन्दू होकर ऐसी बात कहना!

धी०—हां मैं हिन्दू हूं मगर ढोंगी हिन्दू नहीं।

ध०—सब हिन्दू ढोंगी हैं?

धी०—और क्या हैं! तुम्हारे ही कारण तो मुझे कुढ़ न पैदा होगई है। जब देखो एक पंवारा फैला देती हो।

ध०—यह सब पंवारा नहीं, अपने कर्तव्य हैं। इस प्रकार इतराना अनिष्टकारी होता है।

धी०—सब व्यर्थ है।

ध०—व्यर्थ नहीं है आप यह याद रक्खें कि परमेश्वर अन्धा नहीं है उसकी दृष्टि में खटकना उचित नहीं है।

धीरे—तुम्हें मेरे मुंह लगाना भी ठीक नहीं है। जब देखो तब दबाना चाहती हो। मैं नहीं जाता क्या होगा।

ध०—ऐसा हठ न करें हठ का नतीजा बड़ा भयंकर होता है।

धी०—तुम्हारा सिर लो अब मैं बैठक खाना भी साफ करवादेता हूं। अपनी प्रतिमा प्रतिमा अलग ले जाओ। इन पाखंडों से तो नाकों दम आ गया। शेष अगले अंक में।

* माधव से *

[ले० श्रीमती ब्रजकुमारी "प्रभाकर" आश्रम]

तुमने क्या विचारी है जो आते अब नहीं माधव ?
भक्त पर भीर भारी है फिर आते क्यों नहीं माधव ?
पितामह जब लगे करने अर्जुन को शस्त्रों से घायल ।
न तुम चुप होसके प्रण तोड़ विकल हो उठ के धाये थे ॥
पाञ्चाली के अञ्चल में अचल होकर हुये चल तुम ।
वसन के रूप में विस्तृत शीघ्र बढ़ करके आये थे ॥
क्षीर सागर शयन श्री संग श्रवण सुन टेर गज की तुम–
गरुड़ को छोड़ तब सम्भ्रम नंगे पैरों आये थे ॥
क्या अबके मौन धारी है जो आते अब नहीं माधव ?
भक्त पर भीर भारी है फिर आते क्यों नहीं माधव ॥ १ ॥
ललित लीला से विदुरी वे पुकारीं जब विदेह होकर ।
न फिर तुम छुप सके उनमें प्रगट पुलकित हो आये थे ॥
अल्प चन्दन चढ़ाने से मोहन तुम होगये मोहित ।
देख कुब्जा को तुम रीझे रमण करने को आये थे ॥
विमाता से दुःखी होकर किया प्रस्थान ध्रुव ने वन ।
धरा जब ध्यान उसने तब कहो ध्रुव राज आये थे ?
भक्त की सुध बिसारी है जो आते अब नहीं माधव ?
भक्त पर भीर भारी है फिर आते क्यों नहीं माधव ॥ २॥
न बन्धते थे तुम बन्धन से चाहा बान्धना तुमको ।
बन्धे फिर आपही तुम खुद रुदन कर मां पै आये थे ॥
गुरू की मान कर आज्ञा डटी व्रत पर रहा बालक ।
सके तुम न विरद को छोड़ आप चलकर के आये थे ॥
तपाकर खम्ब से बान्धा गया प्रह्लाद पितु से निज ।
खम्ब को भेद कर सत्वर भक्त वत्सल हो आये थे ॥
दीनबन्धु बिहारी है कहै "ब्रज" नाम ए माधव !
भक्त पर भीर भारी है और आते तुम नहीं माधव ॥ ३ ॥

भजन

सूवा चल वा बनको रस लीजै ॥ टेक ॥
जा बन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्रभर पीजै।
को तेरो पुत्र पिता तू काको मिथ्या भ्रम जग केरो।
काल मंजार ले जै है तो को तू कहे मेरो मेरो ॥
हरि नाना रस मुक्त क्षेत्र चल तोको दिखराऊं।
सूरदास साधन की संगति बड़े भाग्य जो पाऊं ॥

२

खेलत विपिन बसन्त लाडिले नेह भरे पिय प्यारी ॥
रत्न जड़ित सिंहासन बैठे मध्य फूली फुलवारी ॥
तन सुख केसर भीने बागे अनुरागे छवि धारी।
भूषन भूषित अंग अंग द्युति दमक चमक मन हारी ॥
ताल मृदंग उपंग बजावत गावत अलि सुख कारी।
रस सरिता ललितादिक आनन्द मगन महारी ॥
उडत अबीर गुलाललाल घन बन छवि छाय बिहारी।
निरखत लाल रूपहि दंपति प्रेखि संपदा वारी ॥

३

निपट बंकट छवि अटके मेरे नैना ॥
देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूष न मटके ॥
बारिज भवां अलक टेढ़ी मानो सुगंध रस अटके ॥
टेढ़ो कटि टेढ़ी कर मुरली टेढ़ पाग लर लटके ॥
मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नटके ॥

४

यह दोऊ झूलत रंग हिंडोरे ॥
दशरथ सुत अरु जनक नन्दनी,
चितवन में चित चोरे ॥
नान्ही नान्ही बूंदन पवन पुरैया,
बरसत थोरे थोरे ॥
हरी हरी भूमि घटा झुक आई,
सरयू लेत हिलोरे ॥
हयदल पैदल जगदल रथदल,
कोट बने चहुं ओरे ॥
उपवन माहिं मधुर स्वर बोलें,
कोकिल मोर चकोरे ॥
रत्न जड़ित को बन्यो हिंडोरा,
रेशम लागी डोरें ॥
अरस परस दोऊ झूल झुलावें,
इक सांवर इक गोरे ॥
वामें विमल सखी उरझानी,
अपनी अपनी ओरे ॥
तुलसीदास अनुकूल जानके,
सियाजी हंसी मुख मोरे ॥

५

आली दशरथ सुत सुख दैना ॥
सुरनर मुनि मन हरन बरन बर,
कोटि काम सुन्दर सुख मन्दिर।
तन मन धन न्योछावर कीनो,
निरख निरख मन चैना ॥ १ ॥
कमल नैन सुन्दर कपोल,
अलकन झलकन कुण्डल सुलोल।
मुसकान मन्द सुख कन्द चन्द मुख,
मधुर मधुर बर बैना ॥ २ ॥
अंग अंग वारूं अनंग,
शिव धनुष भंग कर रंग।
सिया अंग अंग रस रंग रंग,
मगे रत्न हरी सुख ऐना ॥ ३ ॥

REG DNo. L 2077

भक्ति प्रेस में मिलने वाली पुस्तकें।

१.	भगवद्गीता संस्कृत तथा भाषा टीका सहिता	मूल्य	॥=)
२.	भगवद्गीता दशम अध्याय पर्यन्त	,,	।=)
३.	गीता मूल (मोटा टाइप)	मूल्य नित्य पाठ	
४.	वेदोपनिषद्		।=)
५.	अष्टोत्तरशतमन्त्रमाला	,,	=)।
६	ज्ञानधर्मोपदेश	,,	=)॥
७.	भक्ति ज्ञान योग संग्रह	,,	=)॥
८.	सत्य शब्द संग्रह (गुटका)	,,	=)
९.	सत्य शब्द संग्रह	,,	॥=)
१०.	शब्द सदाचार संग्रह	,,	=)॥
११.	शब्द सार संग्रह	,,	=)।
१२.	शब्दसंग्रह	,,	=)॥
१३.	सारसंग्रह	,,	।)
१४.	भाषा फक्किका प्रकाश	,	।=)
१५.	मनुस्मृति सार	,,	॥)
१६.	भक्ति चिन्तामणि	,,	।=)
१७.	भगवद्भक्तांक	,,	॥=)
१८.	भगवदंक	,,	॥)
१९.	गवांक	,,	१)
२०.	महात्मांक	,,	१)

नोटः-एक रुपये से कम मूल्य की पुस्तक मंगाने वालों को डाक महसूल सहित टिकट भेजना चाहिये।

मिलने का पताः-

श्री भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

मुद्रक तथा प्रकाशक भगवानन्द ब्रह्मचारी "भक्ति प्रेस" भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।